अग्निशिखा

अखिल भारतीय पत्रिका
नवम्बर २०१८

धर्म तथा आध्यात्मिकता

विषय-सूची

(श्रीअरविन्द तथा श्रीमाँ के वचन)

सन्देश/सम्पादकीय	३
धार्मिक जीवन	५
आध्यात्मिक जीवन	२०
धर्म तथा आध्यात्मिकता	३७

'पुरोधा'

दैनन्दिनी		५२
'नयी कोंपलें' : एकान्त (कविता)	शाम्भवी	५४
कौन है पेरु उदइयार?	वन्दना	५५

अग्निशिखा

श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका

वार्षिक शुल्क : एक वर्ष—१८०रु.; तीन वर्ष—५२०रु.; पाँच वर्ष—८६०रु.

अधिष्ठाता : श्रीअरविन्द सोसायटी

मुद्रक : स्वाधीन चैटर्जी, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस

प्रकाशक : प्रदीप नारंग, श्रीअरविन्द सोसायटी

प्रकाशक स्थल : सोसायटी हाउस, ११ सैं मार्तैं स्ट्रीट, पुदुच्चेरी ६०५००१

मुद्रण-स्थल : श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, नं. ३८, गूबैर ऐवेन्यू,
पुदुच्चेरी ६०५००१, भारत

सम्पादिका : वन्दना

Registered with the Registrar of Newspapers for India: No. 18135/70

दूरभाष संख्याएँ (०४१३) २३३६३९६-९७-९८

Email: info@aurosociety.org

Website: www. aurosociety.org

सन्देश

बीते कल की विजय आगामी कल की विजय की ओर एक सोपान मात्र है। —श्रीमाँ

सम्पादकीय : धर्म तथा आध्यात्मिकता योग में दो ऐसे सुस्पष्ट प्रवेश-मार्ग हैं जिन पर मनुष्य उस तक पहुँचने के लिए क़दम बढ़ाता है जो उसकी जानकारी और उसके अनुभव के सामान्य घेरे के बाहर की चीज़ होती है। यद्यपि हैं ये दोनों एकदम से भिन्न चीज़ें, लेकिन उच्चतर मानव क्रिया-कलाप में ऐसी मिली-जुली हैं कि मनुष्य दोनों का भेद समझने में घपला कर बैठता है। इस उलझन का कारण तब समझ में आता है जब हम देखते हैं कि सभी धर्मों का जन्म किसी-न-किसी आध्यात्मिक आविर्भाव से ही हुआ है, यह अलग बात है कि आगे चल कर धर्म सीमित हो गये, समय के साथ-साथ पुराणपन्थी और कट्टर बन बैठे। यानी, शाश्वत तथा सत्य के प्रति उनका प्रारम्भिक जीवन्त तथा सचेतन सम्पर्क धीरे-धीरे आत्माविहीन होकर मात्र कर्मकाण्ड बन कर रह गया। अतः, मनुष्य—जिसके अन्दर हमेशा उच्च से उच्चतर को पाने की सच्ची चाह बनी रहती है—वह कुन्द पड़ जाती है और वह जुड़ जाता है मात्र परम्परागत धार्मिक विधि-विधानों से। यह बात भी सच है कि कुछ लोग उस ढाँचे में श्रद्धा तथा अभीप्सा की फूँकें मार-मार कर उसे जिला सकते हैं और फिर उस धर्म के सहारे आध्यात्मिकता की ओर पग बढ़ा सकते हैं। इस अंक में हम धर्म तथा आध्यात्मिकता को गभीरतर समझने, उनके बीच के विभेद, उनकी सीमितता और क्रमविकासात्मक मानव अभीप्सा का जो तागा उन दोनों के बीच पिरा हुआ है, उस पर प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे।

तुम्हें धार्मिक और आध्यात्मिक शिक्षा में घालमेल नहीं कर देना चाहिये।

धार्मिक शिक्षा भूतकाल की चीज़ है और प्रगति को रोकती है।

आध्यात्मिक शिक्षा भविष्य की शिक्षा है—यह चेतना को प्रदीप्त करती है और उसे भावी उपलब्धियों के लिए तैयार करती है।

आध्यात्मिक शिक्षा धार्मिक शिक्षा से ऊपर है और सार्वभौम 'सत्य' की ओर प्रयास करती है।

यह हमें भगवान् के साथ सीधा नाता जोड़ना सिखाती है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १२, पृ. १३१-३२

धार्मिक जीवन

धर्म का स्वरूप और उसकी रचना

धर्म का यथार्थ स्वरूप क्या है? क्या वह आध्यात्मिक जीवन के मार्ग में बाधक है?

धर्म मानवजाति के उच्चतर मन की चीज़ है। वह मनुष्य के उच्चतर मन की चेष्टा है जिसके द्वारा वह यथाशक्ति अपने से परे की किसी वस्तु तक पहुँचना चाहता है, उस वस्तु तक, जिसे मानवजाति 'ईश्वर', 'आत्मा', 'सत्य', 'श्रद्धा', 'ज्ञान' या 'अनन्त', किसी प्रकार की 'निरपेक्ष' सत्ता का नाम दे देती है। वह सत्ता मानव मन की पहुँच के परे है, फिर भी मन वहाँ पहुँचने की चेष्टा करता है। धर्म का मूल स्रोत भले ही दिव्य हो; किन्तु इसका प्रकट रूप दिव्य नहीं, मानव ही है। वास्तव में, हमें धर्म की जगह धर्मों की बात कहनी चाहिये; क्योंकि मनुष्य के बनाये हुए धर्म अनेक हैं।...

सभी धर्मों की कथा इसी प्रकार की है। सभी धर्मों का जन्म किसी महान् 'जगद्गुरु' के आविर्भाव को लेकर होता है। ये आते हैं, किसी 'भागवत सत्य' को प्रकाशित करते हैं और स्वयं उसके मूर्तिमान् अवतार होते हैं। परन्तु मनुष्य इस सत्य पर क़ब्ज़ा जमा लेते हैं, इसका सौदा करते हैं, इसे एक राजनीतिक संगठन-सा बना लेते हैं। ये लोग धर्म के साथ किसी शासनतन्त्र को, किसी नीति को तथा कुछ क़ायदे-क़ानूनों को जोड़ देते हैं, जिनके अपने सिद्धान्त और नियम, विधि-विधान, शास्त्रोक्त कर्म और अनुष्ठान होते हैं, जिनका अनुसरण और पालन उस धर्म के अनुयायियों के लिए अलंघ्य और अनिवार्य होता है। शासन की तरह, इसमें भी सच्चे भक्तों को पुरस्कार दिया जाता है और विद्रोह करने वालों तथा उन्मार्गगामियों को, धर्म-विरोधियों और धर्म-त्यागियों को सज़ा।

नियमित तथा औपचारिक रूप से स्थापित इन धर्मों की ओर से जो पहली और मुख्य बात हमेशा कही जाती है वह है: "मेरा धर्म सर्वोत्तम है, सत्य केवल इसी धर्म में है, बाक़ी के सभी धर्म या तो मिथ्या हैं या निम्नकोटि के हैं।" इस प्रकार के सिद्धान्तों को आधार बनाये बिना ये व्यवस्थित विश्वासपरक धर्म टिक ही नहीं सकते। यदि तुम्हें इस बात पर

विश्वास न हो और तुम घोषणा न करो कि अद्वितीय या उच्चतम सत्य तुम्हारे ही पास है तो तुम दूसरों पर प्रभाव नहीं डाल सकोगे और अपने इर्द-गिर्द उनकी मण्डली न जुटा सकोगे।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. ८६, ८७-८८

धर्म की उपयोगिता

धर्म के सिद्धान्त और नियम मन के बनाये हुए हैं और, यदि तुम इनसे चिपके रहो तथा जीवनचर्या के लिए दी गयी इनकी व्यवस्था में अपने-आपको बन्द रखो तो तुम उस आत्मा के सत्य को, जो समस्त नियमों और सिद्धान्तों के परे, विशाल, महत् और स्वतन्त्र है, नहीं जानोगे, नहीं जान सकोगे। जब तुम किसी धार्मिक मतवाद में, केवल उसी को संसार का एकमात्र सत्य मान कर रुक जाते हो और उसके साथ अपने-आपको बाँध लेते हो तो तुम अपनी अन्तरात्मा की उन्नति और विस्तार को रोक देते हो। परन्तु यदि तुम धर्म को एक और दृष्टिकोण से देखो तो यह ज़रूरी नहीं है कि वह सभी मनुष्यों के लिए सदा बाधक ही हो। यदि तुम धर्म को मानवजाति की उच्चतर प्रवृत्तियों में से एक मानो और यदि तुम इसमें मनुष्य की अभीप्साओं को देख सको, पर यह न भूलते हुए कि मनुष्य की बनायी हुई सभी चीज़ें आख़िर अपूर्ण हैं, तो यह तुम्हें आध्यात्मिक जीवन तक पहुँचाने में सहायक ही सिद्ध होगा। धर्म को गभीर और सच्ची लगन के साथ स्वीकार करके तुम उसके अन्दर यह खोजने का प्रयास कर सकते हो कि उसमें सत्य क्या है, उसके अन्दर कौन-सी अभीप्सा छिपी है, मनुष्य के मन और मनुष्य के संगठन द्वारा भगवान् की कौन-सी दिव्य प्रेरणा को वहाँ परिवर्तित और विकृत होना पड़ा है, और यदि तुम उचित बौद्धिक दृष्टिकोण लेकर आगे बढ़ो तो अपने वर्तमान विकृत रूप में भी धर्म तुम्हारे मार्ग पर कुछ प्रकाश डालेगा और तुम्हारे आध्यात्मिक प्रयास में कुछ-न-कुछ सहायता करेगा।

सभी धर्मों में हमें ऐसे लोग मिलते हैं जिनमें भावपूर्ण होने की बड़ी क्षमता होती है और जो सच्ची और ज्वलन्त अभीप्सा से भरे होते हैं, परन्तु उनका मन बहुत सरल होता है और वे ज्ञान के द्वारा भगवान् तक पहुँचने की आवश्यकता अनुभव नहीं करते। इस प्रकार की प्रकृतिवालों

के लिए धर्म का उपयोग है, इतना ही नहीं, उनके लिए यह आवश्यक है; कारण, मन्दिरों, गिरजाघरों में अनुष्ठान आदि बाह्य उत्सवों के द्वारा यह उनकी आन्तरिक आध्यात्मिक अभीप्सा को एक प्रकार का सहारा और सहायता पहुँचाता है। सभी धर्मों में कुछ लोग ऐसे हैं जिन्होंने अपने उच्च आध्यात्मिक जीवन का विकास किया है। परन्तु उनकी आध्यात्मिकता धर्म की दी हुई नहीं है, बल्कि उन्होंने ही अपने धर्म में अपनी आध्यात्मिकता का समावेश किया है। ये लोग जहाँ कहीं रहते, जिस किसी सम्प्रदाय में पैदा होते, वहीं वही आध्यात्मिक जीवन ढूँढ़ निकालते और उसे जीते। वे जो कुछ हैं अपनी सामर्थ्य और अपनी अन्तःसत्ता की किसी शक्ति के द्वारा बने हैं, न कि स्वीकार किये हुए धर्म के द्वारा।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. ८८-८९

अपने धर्म को ढूँढ़ निकालना

यदि तुम्हें, जिस धर्म में तुम पैदा हुए या पले हो उसका वास्तविक मूल्य आँकना हो अथवा अपने देश या समाज को उसके यथार्थ रूप में देखना हो, यदि तुम्हें यह जानना हो कि जिस परिस्थिति में तुम जा पड़े हो या घिरे हुए-से हो वह कितनी सापेक्ष है, तो केवल पृथ्वी-पर्यटन करके यह देख लो कि जिस चीज़ को तुम अच्छा समझते हो वही चीज़ दूसरी जगह बुरी समझी जाती है, और जो कुछ एक स्थान में बुरा समझा जाता है उसी का दूसरे स्थान पर अच्छा कह कर स्वागत किया जाता है। सभी देशों का और सभी धर्मों का जन्म अनेकविध परम्पराओं और रूढ़ियों के समूह में से हुआ है। इन सभी में तुम्हें सन्त, शूरवीर, महान् और शक्तिशाली पुरुष मिलेंगे, साथ-ही-साथ क्षुद्र और दुष्ट पुरुष भी। तब तुम यह अनुभव करोगे कि यह कहना कितना हास्यास्पद है: "चूँकि मैं इस धर्म में पला हूँ, इसलिए यही धर्म सच्चा है; चूँकि मैं इस देश में पैदा हुआ हूँ, इसलिए यही देश सब देशों में उत्तम है।" इसी तरह का दावा अपने परिवार के विषय में भी किया जा सकता है और कहा जा सकता है: "चूँकि मैं एक ऐसे परिवार का हूँ जो एक ही स्थान में इतने वर्षों या शताब्दियों तक रहा है, इसलिए उसकी परम्पराओं और रूढ़ियों से मैं बँधा हुआ हूँ; केवल ये परम्पराएँ और रूढ़ियाँ ही आदर्श हैं।"

वस्तुओं का आन्तरिक मूल्य तभी होता है और वे वास्तविक भी तभी होती हैं जब उन्हें अपने स्वतन्त्र चुनाव के द्वारा प्राप्त किया जाये, तब नहीं जब वे तुम पर थोपी गयी हों। यदि तुम अपने धर्म के बारे में निश्चित होना चाहो तो स्वयं तुम्हें उसे चुनना चाहिये; यदि तुम अपने देश के बारे में निश्चित होना चाहो तो तुम्हें स्वयं उसे चुनना चाहिये; यदि तुम अपने परिवार के बारे में निश्चित होना चाहो तो उसे भी स्वयं तुम्हें चुनना चाहिये। 'संयोग-वश' जो कुछ भी मिलता जाये, उसी को तुम बिना छान-बीन के स्वीकार करते चलो तो तुम्हें इस बात का निश्चय कभी नहीं हो सकता कि वह वस्तु तुम्हारे लिए अच्छी है या बुरी, वह तुम्हारे जीवन के लिए सत्य है या नहीं। उन सभी चीज़ों से जो प्राकृतिक परिस्थितियों अथवा विरासत में मिली वस्तुओं के रूप में तुम्हारे इर्द-गिर्द जमा हो गयी हैं, जो प्रकृति की अन्ध यान्त्रिक प्रक्रिया द्वारा बनी और तुम पर ज़बरन लाद दी गयी हैं, पीछे हटो; अन्तर्मुखी होकर वस्तुओं को शान्त और अनासक्त होकर देखो। उनका मूल्य आँको और स्वतन्त्र रूप से चुनो। तभी तुम अपने आन्तरिक सत्य के साथ यह कह सकोगे : "यह मेरा परिवार है, यह मेरा देश है, यह मेरा धर्म है।"

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. ९१-९२

धर्म को थोपा नहीं जा सकता

तुम्हारे सभी सम्बन्ध चुनाव की आन्तरिक स्वतन्त्रता के आधार पर नये सिरे से स्थापित होने चाहियें। वे परम्पराएँ जिनमें तुम पले हो या रहते हो, वे परिस्थिति के दबाव द्वारा या सर्वसाधारण मन द्वारा अथवा दूसरों की रुचि द्वारा तुम पर लादी गयी हैं। तुमने एक प्रकार से बाध्य होकर ही इन्हें स्वीकारा है। स्वयं धर्म भी मनुष्यों पर लादी हुई चीज़ है; इसे प्रायः कोई धार्मिक भय अथवा आध्यात्मिक या अन्य प्रकार की विभीषिका का भाव पीछे से सहारा दिये रहता है। भगवान् के साथ तुम्हारे सम्बन्ध में इस प्रकार के आरोपण का कोई स्थान नहीं हो सकता; यह सम्बन्ध सर्वथा स्वतन्त्र, तुम्हारे मन और प्राण की पसन्दगी के अनुसार, उत्साहपूर्ण तथा आनन्द से भरा होना चाहिये। वह कैसा एकत्व होगा जिसमें कोई काँपते हुए कहे : "मैं बाध्य होकर कर रहा हूँ, मेरे पास और उपाय ही नहीं है?"

सत्य स्वतःसिद्ध है और उसे जगत् पर लादने की आवश्यकता नहीं। उसे मनुष्यों के द्वारा स्वीकारे जाने की आवश्यकता नहीं महसूस होती; वह स्वतःस्थित है, वह अपने बारे में लोगों की राय या उनके समर्थन के कारण नहीं जीता। परन्तु जो धर्म की स्थापना करता है उसे बहुत-से अनुयायियों की आवश्यकता होती है। लोग किसी धर्म की ताक़त और महानता को उसके अनुयायियों की संख्या को देख कर नापते हैं, यद्यपि असली महानता उसमें नहीं है। आध्यात्मिक सत्य की महानता संख्या पर निर्भर नहीं होती। मेरा एक नवीन धर्म के अधिपति से, जो उस धर्म के संस्थापक का पुत्र था, परिचय था। मैंने उसे एक बार यह कहते हुए सुना कि अमुक धर्म की स्थापना में इतने सौ वर्ष लगे हैं और अमुक धर्म की स्थापना में इतने सौ, किन्तु पचास वर्ष के अन्दर ही हमारे धर्म के अनुयायी चालीस लाख से भी अधिक हो गये हैं। "सो आप देख सकती हैं," उसने कहा, "हमारा धर्म कितना महान् है!" धर्म भले ही अपनी महानता को अनुयायियों की संख्या के परिणाम में कूता करें, किन्तु 'सत्य' का यदि एक भी अनुयायी न हो फिर भी वह 'सत्य' ही रहेगा।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. ९४

पूजा तथा धार्मिक जीवन

तुमने अपने पत्र में जिस तरह की पूजा की बात कही है वह धार्मिक जीवन से सम्बन्ध रखती है। अगर उसे गभीरतम धार्मिक भाव में उचित रूप से किया जाये तो वह हृदय तथा मन को कुछ हद तक तैयार कर सकती है उससे अधिक नहीं। लेकिन अगर पूजा को ध्यान के रूप में किया जाये या आध्यात्मिक वास्तविकता और आध्यात्मिक चेतना के प्रति सच्ची अभीप्सा के रूप में और 'भगवान्' के साथ सम्पर्क और तादात्म्य की ललक के साथ किया जाये तब वह आध्यात्मिक रूप से प्रभावकारी बन सकती है। अगर तुम्हारे अन्दर अपने हृदय और अपनी अन्तरात्मा के आध्यात्मिक परिवर्तन के लिए सच्ची अभीप्सा हो तो तुम पथ तथा 'पथ-प्रदर्शक' पा लोगे। आत्मा के द्वार खोलने के लिए मात्र मानसिक खोज तथा जिज्ञासा पर्याप्त नहीं होते।

CWSA खण्ड २८, पृ. ४२०

धार्मिक स्थल और प्राणिक सत्ताएँ

सभी धार्मिक कीर्तिस्तम्भों में, ऐसे कीर्तिस्तम्भों में जो लोगों की दृष्टि में... जो सबसे महान् माने जानेवाले धर्मों के कीर्तिस्तम्भ हैं, चाहे वे फ़्रांस में हों या किसी और देश में हों या जापान में—वे कभी एक ही प्रकार के मन्दिर या गिरजाघर न थे, न एक ही देवता थे, और फिर भी हर जगह मेरा अनुभव लगभग एक ही रहा, फ़र्क नाममात्र को था—मैंने देखा कि गिरजाघर में जो भी केन्द्रित शक्ति थी वह पूर्ण रूप से भक्तों पर, भक्तों की श्रद्धा के परिमाण के अनुसार थी। और उस शक्ति में भी, जैसी कि वह सचमुच थी और जैसी वे अनुभव करते थे, उसमें भी भेद था। उदाहरण के लिए, फ़्रांस के सबसे सुन्दर गिरजाघरों में से एक में, एक ऐसा गिरजाघर जो कला की दृष्टि से सचमुच इतना भव्य है कि शानदार कल्पना की सीमा तक जा पहुँचता है, उसके सबसे पवित्र स्थान में मैंने एक **दीर्घाकार**, काली प्राणिक मकड़ी देखी। उसने अपना जाल बना कर सब जगह फैला रखा था। उसमें वह लोगों की भक्ति से, उनकी प्रार्थनाओं आदि से निःसृत शक्तियों को पकड़ कर आत्मसात् कर लेती थी। वह कोई सुखद दृश्य नहीं था; जो लोग वहाँ थे और प्रार्थना कर रहे थे वे एक दिव्य स्पर्श का अनुभव कर रहे थे, उन्हें अपनी प्रार्थनाओं के फलस्वरूप नाना प्रकार के वरदान मिल रहे थे। और फिर भी वहाँ जो चीज़ थी वह यही, यही थी। लेकिन लोगों में अपनी श्रद्धा थी, वह श्रद्धा जो उनके अन्दर इस बुरी चीज़ को अच्छी में बदल सकती थी, उनमें अपनी श्रद्धा थी। इसलिए, सचमुच, अगर मैं वहाँ गयी होती और उनसे कहती: "तुम समझते हो कि तुम भगवान् से प्रार्थना कर रहे हो? एक बड़ी प्राणिक मकड़ी तुम्हारी सारी शक्तियों से परिपुष्ट हो रही है!" तो यह बहुत हितकर बात न होती। और अधिकतर, प्रायः सभी जगह यही होता है। वहाँ एक प्राण-शक्ति रहती है, क्योंकि ये प्राणिक सत्ताएँ मानव भावनाओं के स्पन्दनों से पलती हैं। ऐसे बहुत कम लोग हैं, बहुत ही कम, उनकी संख्या न के बराबर है, जो सच्ची धार्मिक भावना के साथ गिरजाघर या मन्दिर जाते हैं, यानी, किसी चीज़ के लिए प्रार्थना करने या भगवान् से कुछ माँगने के लिए नहीं, बल्कि अपने-आपको समर्पित करने के लिए, कृतज्ञता प्रकट करने के लिए, अभीप्सा और आत्म-समर्पण करने के लिए जाते हैं। ऐसा करने वाला मुश्किल से

लाखों में एक होता है। इसीलिए उनमें इस वातावरण को बदलने की शक्ति नहीं होती। हो सकता है कि जिस क्षण ऐसे लोग वहाँ होते हैं उस समय वे इस चीज़ को पार करने, भेदने, कहीं पहुँच कर किसी दिव्य चीज़ का स्पर्श पाने में सफल हो जाते हों। लेकिन बहुत बड़ी संख्या में जो लोग केवल अन्धविश्वास, अहंकार और अपने स्वार्थ के कारण जाते हैं, वे इस प्रकार का वातावरण बना देते हैं, और जब तुम किसी मन्दिर या गिरजाघर में जाते हो तो तुम इसी वातावरण में साँस लेते हो। केवल इतना ज़रूर है कि चूँकि तुम बड़ी सद्भावना के साथ जाते हो इसलिए तुम कहते हो: "ओह! ध्यान के लिए कितनी शान्त जगह है!"

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. २२२-२३

तर्क और धर्म

अगर तुम किसी धर्म का मूल्यांकन अपनी तर्क-बुद्धि से करना चाहो, तो निश्चय ही भूलें करोगे, क्योंकि वह तर्क-बुद्धि के क्षेत्र के बाहर और उससे परे है। तर्क-बुद्धि उन्हीं चीज़ों का मूल्यांकन कर सकती है जो सामान्य जीवन के बौद्धिक क्षेत्र की हैं। और जैसा कि उन्होंने बाद में कहा है, तर्क-बुद्धि की सच्ची भूमिका है, मानव जीवन में मन और प्राण की गतिविधियों में व्यवस्था और नियन्त्रण लाने की।

उदाहरण के लिए, हर बार जब तुम्हारे अन्दर प्राण की कुछ गड़बड़ हो, आवेगों, कामनाओं, मनोवेगों और इस तरह की चीज़ों की गड़बड़ हो तो अगर तुम तर्क-बुद्धि को बुलाओ और इन चीज़ों को तर्क-बुद्धि के दृष्टिकोण से देखो, तो तुम उन्हें फिर से व्यवस्थित कर सकते हो। वास्तव में तर्क-बुद्धि की भूमिका है, मन और प्राण की सभी गतिविधियों को व्यवस्थित करना।...

लेकिन धर्म का मूल्य जानने के लिए, यह जानने के लिए कि वह भगवान् के साथ, आध्यात्मिक जीवन के साथ तुम्हारा सम्पर्क स्थापित कर सकने की सचमुच शक्ति रखता है या नहीं, तुम्हें उसकी ओर ले जाता है या नहीं, तर्क-बुद्धि कैसे निर्णय कर सकती है, जब कि यह उसके क्षेत्र से परे की चीज़ है? यह उसके बारे में कुछ नहीं जानती। यह उसका क्षेत्र नहीं है, वहाँ यह कुछ भी नहीं समझती। हमें अन्य साधनों का उपयोग करना चाहिये।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ७, पृ. १८६

साधारण जीवन में धर्म की आवश्यकता

मधुर माँ, क्या साधारण व्यक्ति के जीवन में धर्म एक आवश्यकता है?

समाजों के जीवन में यह एक आवश्यकता है, क्योंकि सामूहिक अहं के लिए यह दोष-निवारक का काम करता है, जिसके नियन्त्रण के अभाव में यह कहीं अधिक फूल उठता।

सामूहिक चेतना का स्तर व्यक्तिगत चेतना के स्तर से हमेशा नीचा रहता है। यह बात देखने-लायक है। उदाहरणार्थ, जब लोग एक दल में या बहुत बड़ी संख्या में इकट्ठे होते हैं तो चेतना का स्तर बहुत नीचे गिर जाता है। भीड़ की चेतना व्यक्तिगत चेतना से काफ़ी नीची होती है, और निश्चय ही समाज की सामूहिक चेतना उसके सदस्यों की चेतना से नीची होती है।

वहाँ, यह (धर्म) एक आवश्यकता है। सामान्य जीवन में, हर व्यक्ति का, चाहे वह जाने या न जाने, हमेशा एक धर्म होता है, लेकिन कभी-कभी उसके धर्म का उद्देश्य काफ़ी निचले प्रकार का होता है...। जिस देवता की वह उपासना करता है वह सफलता का देवता भी हो सकता है, या धन का या शक्ति का देवता हो सकता है या सिर्फ कुल-देवता : बच्चों का देवता, कुटुम्ब का देवता, पूर्वजों का देवता। धर्म हमेशा रहता है।

हर व्यक्ति के अनुसार उसके धर्म का स्वरूप अलग-अलग होता है, पर किसी आदर्श के मूलतत्त्व को जीवन का **केन्द्र-बिन्दु** बनाये बिना मनुष्य के लिए जीना, जीते रहना, जीवन में चलते जाना कठिन है। अक़्सर तो उसे इसका पता ही नहीं होता, अगर उससे पूछा जाये कि तुम्हारा आदर्श क्या है तो वह उसे शब्दों का रूप नहीं दे पायेगा, किन्तु उसका कोई-न-कोई आदर्श होता है—धुँधला-सा, कुछ ऐसा जो उसे अपने जीवन में सबसे ज़्यादा अनमोल लगता है।...

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ९, पृ. ३८५

स्वाधीनता के साथ 'सत्य' की खोज करना और अपने निजी पथ द्वारा स्वतन्त्र रूप से 'सत्य' के निकट जाना मनुष्य का अधिकार है। लेकिन हर एक को यह जानना चाहिये कि उसकी खोज सिर्फ़ उसी के लिए अच्छी है और उसे दूसरों पर नहीं लादना चाहिये। —*श्रीमाँ*

सामाजिक-राजनीतिक विचारधाराएँ और धर्म

हर एक राजनीतिक या सामाजिक विचार किसी ऐसे आदर्श की निम्नतर अभिव्यञ्जना होता है जो प्रारम्भिक या अविकसित धर्म है। जैसे ही चिन्तन की क्षमता आती है वैसे ही आवश्यक रूप से हर पल के पाशविक दैनिक जीवन से किसी ज़्यादा ऊँची चीज़ के लिए अभीप्सा उठती है और यही वह चीज़ है जो जीने की शक्ति और सम्भावना प्रदान करती है।

निस्सन्देह, यह कहा जा सकता है कि यह व्यष्टियों और समष्टियों दोनों पर समान रूप से लागू होता है, उनकी क़ीमत उनके आदर्श, उनके धर्म के गुण के अनुपात में होती है, अर्थात्, उस चीज़ के अनुपात में जिसे वे जीवन में सबसे ऊँचा स्थान देते हैं।

निस्सन्देह, यदि धर्म की बात करते समय किसी का मतलब मान्यता-प्राप्त धर्मों से हो तो यह सच है कि हर एक का अपना धर्म होता है, चाहे वह उसे जाने या न जाने, चाहे वह उन महान् धर्मों का ही अनुयायी हो जिनका नाम और इतिहास है। यह निश्चित है कि यदि कोई सिद्धान्तों को कण्ठस्थ कर ले और बताये हुए विधि-विधानों के आगे सिर झुका दे तब भी हर एक अपने ही ढंग से समझता है और कार्य करता है, केवल धर्म का नाम एक रहता है, लेकिन वही धर्म उन सब लोगों के लिए एक नहीं होता जो सोचते हैं कि वे इसका पालन कर रहे हैं।

कहा जा सकता है कि 'अज्ञात' और सर्वोत्तम के लिए इस अभीप्सा की कुछ अभिव्यञ्जना के बिना मानव जीवन बहुत दूभर हो जायेगा। यदि प्रत्येक मनुष्य के हृदय में किसी अधिक अच्छी चीज़ की—चाहे वह किसी भी तरह की हो—आशा न होती तो उसे ज़िन्दा रहने के लिए आवश्यक शक्ति मुश्किल से ही मिल पाती।

(मौन)

लेकिन बहुत कम लोग ऐसे हैं जो स्वतन्त्र रूप से सोच सकते हैं; किसी धर्म के इर्द-गिर्द जमा हो जाना, उसे अंगीकार कर लेना, अपना लेना और उस धार्मिक समूह का एक अंग बन जाना अपने लिए अपना धर्ममत बनाने की अपेक्षा कहीं अधिक आसान है। अतः, बाहर से देखने में तो व्यक्ति यह या वह होता है, परन्तु तत्त्वतः वह केवल एक दिखावा है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ९, पृ. ३८६-८७

धर्मों की त्रुटि

शायद कोई भी दो रास्ते बिलकुल एक जैसे नहीं होते, शायद हर एक को अपना रास्ता स्वयं ढूँढ़ना चाहिये। पर यहाँ ग़लती नहीं करनी चाहिये, यह तर्क-बुद्धि द्वारा "ढूँढ़ना" नहीं है, यह अभीप्सा द्वारा "ढूँढ़ना" है : यह अध्ययन और विश्लेषण द्वारा नहीं, बल्कि अभीप्सा की तीव्रता और अन्दर से खुलने की सच्चाई द्वारा ढूँढ़ना है।

जब कोई आध्यात्मिक 'सत्य' की ओर सच्चाई और अनन्य भाव से मुड़ा हुआ हो, इसे भले ही कोई नाम दे लो, जब बाक़ी सब कुछ गौण हो जाता है, जब केवल वही अत्यावश्यक और अपरिहार्य हो तब, उत्तर पाने के लिए उत्कट, निरपेक्ष, पूर्ण एकाग्रता का **एक पल मात्र** काफ़ी होता है।

ऐसी अवस्था में अनुभूति पहले आती है, सही रूप में निरूपित सूत्रबद्धता तो बाद में, फलस्वरूप और स्मृतिस्वरूप की जाती है।

इस तरीक़े में ग़लती की गुंजायश नहीं रहती। सूत्रबद्धता कम या अधिक यथातथ हो सकती है, उसका कोई महत्त्व नहीं जब तक कि तुम उसे रूढ़ सिद्धान्त ही न बना लो।

यह तुम्हारे लिए अच्छा है, बस इतने की ही ज़रूरत है। यदि तुम इसे दूसरों पर थोपना चाहो, चाहे वह कुछ भी हो और अपने-आपमें पूर्ण ही क्यों न हो, तो वह अनुचित चीज़ हो जाती है।

इसीलिए धर्म सदा भूल करते आये हैं—सदा—क्योंकि वे अनुभूति की अभिव्यञ्जना को मानक रूप दे देना चाहते हैं और उसे अकाट्य सत्य के रूप में सब पर लादना चाहते हैं। जिसे अनुभूति हुई उसके लिए वह सच्ची, अपने-आपमें पूर्ण और विश्वासोत्पादक थी। उसके लिए अपने बनाये हुए सूत्र भी अत्युत्तम थे।

लेकिन उन्हें दूसरों पर लादने की इच्छा रखना एक मौलिक भूल है जिसके परिणाम बिलकुल अनर्थकारी होते हैं, जो सदा, सदा सत्य से दूर, बहुत दूर ले जाती है।

अतः, सभी धर्म, चाहे वे कितने ही सुन्दर क्यों न हों, मनुष्य को सदा बुरी-से-बुरी अतियों की ओर ले गये। धर्म के नाम पर किये गये सारे अपराध, सारे आतंक-भरे नृशंस कार्य मानव इतिहास के सबसे ज़्यादा काले धब्बों में से हैं और यह है केवल इसी छोटी-सी मौलिक भूल के

कारण : जो एक व्यक्ति के लिए ठीक हो उसे समष्टि या समूह के लिए ठीक मानने की इच्छा रखना।

(मौन)

रास्ता दिखा देना चाहिये और द्वार खोल देने चाहियें, पर हर एक को राह पर **चलना** होगा, द्वारों से गुज़रना होगा और अपनी व्यक्तिगत सिद्धि के लिए ख़ुद ही रास्ता बनाना होगा।

एकमात्र सहायता जो कोई ले सकता है और लेनी चाहिये वह है 'कृपा' की सहायता जो हर एक में उसकी सच्ची आवश्यकता के अनुसार, अपने-आपको व्यक्त करती है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ९, पृ. ४४३-४४

सम्प्रदायों के कट्टर मत और धर्मों की असहिष्णुता

सम्प्रदायों के कट्टर मत और धर्मों की असहिष्णुता उत्पन्न होने के कारण ये हैं कि सम्प्रदाय और धर्म केवल अपने ही विश्वासों को ज्ञान मानते हैं और दूसरों के विश्वासों को भूल-भ्रान्ति और अज्ञान अथवा मिथ्याचार समझते हैं।

बस, इसी सामान्य प्रवृत्ति के कारण वे जिसे सत्य समझते हैं उसे एक अटल सिद्धान्त का रूप दे देते हैं और दूसरे लोग जिसे सत्य समझते हैं उसकी भयंकर रूप से निन्दा करते हैं। यह समझना कि हमारा ही ज्ञान एकमात्र सच्चा ज्ञान है, हमारा ही विश्वास एकमात्र सच्चा विश्वास है और दूसरों का विश्वास सच्चा, अर्थात्, सत्य नहीं है, ठीक यही कार्य है जिसे सभी सम्प्रदाय और सभी धर्म करते हैं।...

यदि तुम स्वयं को काम करते हुए ध्यानपूर्वक देखो तो तुम इस असहिष्णुता की बनावट को समझ जाओगे और तुम तुरन्त समस्त निरर्थक तर्क-वितर्क को बन्द कर सकोगे। तो, हम फिर उस बात पर वापस आ गये जिसे मैं एक बार पहले भी कह चुकी हूँ : हो सकता है कि वस्तुओं के सत्य के साथ तुम्हें जो सम्पर्क प्राप्त हुआ हो, जो तुम्हारा व्यक्तिगत सम्पर्क हो—थोड़ा-बहुत स्पष्ट, गम्भीर, विशाल और विशुद्ध सम्पर्क हो—उसने **तुम्हें**, विशेष रूप से तुम्हें, एक रोचक और कभी-कभी एक सुनिश्चित

अनुभव प्रदान किया हो, पर इस सम्पर्क ने चूँकि *तुम्हें* एक महत्त्वपूर्ण, सुनिश्चित अनुभव प्रदान किया है इसी कारण तुम्हें यह कल्पना नहीं करनी चाहिये कि यह कोई विश्वजनीन अनुभव है और वही सम्पर्क दूसरे को भी वही अनुभव प्रदान करेगा। यदि तुम यह बात समझ जाओ कि यह विशुद्ध रूप में निजी, व्यक्तिगत, स्वात्मपरक विषय है और यह कोई निरपेक्ष और सर्वमान्य नियम बिलकुल नहीं है, तो फिर तुम दूसरों के ज्ञान की उपेक्षा नहीं कर सकोगे, न ही अपने दृष्टिकोण और अपने अनुभव को उनके ऊपर लादने की इच्छा करोगे। इस तरह तुम उन समस्त मानसिक झगड़ों से बच जाओगे जो हमेशा ही एकदम निरुपयोगी होते हैं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १०, पृ. २५-२७

समस्त कट्टरता मिथ्या है

समस्त कट्टरता मिथ्या है, क्योंकि यह भगवान् तथा सत्य की प्रकृति के ही विरुद्ध है। सत्य को केवल एक ही ग्रन्थ में, बाइबल या वेद या क़ुरान में अथवा एक ही धर्म में बन्द नहीं किया जा सकता। भागवत सत्ता शाश्वत है, विश्व-व्यापक है, अनन्त है और वह केवल मुसलमान की या सेमेटिक धर्मों की—जो बाइबल की परम्परा में हैं और जिनके संस्थापक यहूदी या अरबवासी हैं—एकमात्र सम्पत्ति नहीं बन सकती। हिन्दुओं को, कन्फ़्यूशियसवादियों तथा ताओवादियों और अन्य दूसरों को भी भगवान् के साथ सम्बन्ध स्थापित करने और अपने तरीक़े से सत्य को पाने का उतना ही अधिकार है। सभी धर्मों में कुछ सत्य है, किन्तु किसी एक में सम्पूर्ण सत्य नहीं है। सभी धर्म काल के अन्तर्गत निर्मित हुए हैं और वे सब अन्त में क्षीण और नष्ट हो जायेंगे। मुहम्मद ने स्वयं कभी नहीं कहा कि क़ुरान भगवान् का आख़िरी सन्देश होगा और उसके अलावा और कोई नहीं होगा। धर्मों के नष्ट होने के बाद भी भगवान् और सत्य बने रहते हैं और नये तरीक़ों और रूपों में—जैसा भी भागवत प्रज्ञा निर्धारित करती है—स्वयं को अभिव्यक्त करते हैं। तुम भगवान् को अपने संकीर्ण दिमाग की सीमाओं में बन्द नहीं कर सकते या भागवत शक्ति और चेतना को यह आदेश नहीं दे सकते कि कैसे या कहाँ या किसके माध्यम से वह अभिव्यक्त हो। तुम भागवत सर्वशक्तिमत्ता के विरुद्ध अपनी तुच्छ रुकावटें

नहीं डाल सकते।...

मैं यहाँ किसी का धर्म-परिवर्तन करने के लिए नहीं हूँ। मैं जगत् को यह सीख नहीं दे रहा कि मेरे ही पास आओ, न मैं किसी को बुलाता ही हूँ। मैं यहाँ उन लोगों के अन्दर भागवत जीवन तथा भागवत चेतना को प्रतिष्ठित करने के लिए हूँ जो स्वयं मेरे पास आने के इच्छुक हैं, जिनके अन्दर यह पुकार हुई है और जो मेरे सिवाय और किसी के पास नहीं जाना चाहते। न मैं और न माताजी ही तुमसे यह कह रहे हैं कि तुम हमें स्वीकार करो। सांसारिक जीवन जीने या धार्मिक जीवन अपनाने के लिए तुम यहाँ से छोड़ कर जा सकते हो—जैसा तुम चाहो। लेकिन जिस तरह तुम अपना चुनाव करने के लिए मुक्त हो उसी तरह दूसरे भी यहाँ रहने या अपने ही पथ का अनुसरण करने के लिए स्वतन्त्र हैं।...

CWSA खण्ड ३२, पृ. १०९, १०

क्या धार्मिक क्रियाएँ सहायक होती हैं

ओह! (धार्मिक चीज़ें!) अगर तुम्हें इनसे सहायता मिलती हो तो ठीक है। अगर तुम्हें सहायता नहीं मिलती तो यह केवल...। यह उन पूर्णतः सापेक्ष चीज़ों में से एक है। यह पूर्ण रूप से सापेक्ष है। इसका मूल्य केवल तुम्हारे ऊपर होने वाले असर पर निर्भर करता है और उसी हद तक होता है जिस हद तक तुम उस पर विश्वास करते हो। अगर वह तुम्हें एकाग्रचित्त होने में सहायता देता है तो अच्छा है। साधारण चेतना उसे हमेशा अन्धविश्वास द्वारा करती है, वह इस विचार से करती है कि: "अगर मैं ऐसा करूँ, अगर मैं सप्ताह में एक बार मन्दिर या गिरजाघर जाऊँ, अगर मैं प्रार्थना करूँ तो यह मेरे लिए बहुत शुभ चीज़ होगी।" यह एक अन्धविश्वास है, और जगत् में सब जगह फैला हुआ है, लेकिन आध्यात्मिक दृष्टि से इसका कोई मूल्य नहीं है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. २२०-२१

धर्म के कारण निकृष्टतम और उत्कृष्टतम दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिला है। एक ओर यदि इसके नाम पर अत्यन्त भयानक युद्ध लड़े गये हैं और घृणित नरसंहार हुए हैं तो दूसरी ओर इसने धर्म के कार्य के निमित्त परम शौर्य और आत्म-बलिदान के भावों को भी जगाया है। मनुष्य के मन ने अपने उच्चतम कार्यों के द्वारा जो कुछ प्राप्त किया है, दर्शन-शास्त्र के समान धर्म भी उसकी सीमा दिखाता है। यदि तुम धर्म के बाह्य कलेवर के ग़ुलाम हो जाओ तो यह एक बाधा है, एक साँकल है; किन्तु यदि तुम इसके अन्दर के सार का उपयोग करना जानते हो तो यह आध्यात्मिक जगत् में कूद सकने के लिए तख़्ता बन सकता है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. ८९

जब तक धर्मों का अस्तित्व रहेगा तब तक उनसे मुक़ाबला करने के लिए नास्तिकता अनिवार्य रहेगी। अच्छा तो यह है कि दोनों ही स्वयं मिट कर अपना स्थान 'सत्य' की एक सच्ची और निःस्वार्थ खोज को तथा इस खोज के उद्देश्य के लिए पूर्ण आत्म-निवेदन को दे दें।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १०, पृ. ३२९

आध्यात्मिक अनुभूति का अर्थ है अपने अन्दर (अथवा बाहर, जो उस क्षेत्र में एक ही बात है) भगवान् का संस्पर्श। और यह अनुभूति सर्वत्र, सब देशों में, सब जाति के लोगों में, यहाँ तक कि समस्त युगों में एक ही प्रकार की होती है। अगर भगवान् से तुम्हारी भेंट होती है तो सर्वदा और सर्वत्र एक ही प्रकार से होती है। भेद इसलिए आता है क्योंकि जो कुछ अनुभव होता है और उसको जो रूप दिया जाता है, उन दोनों के बीच लगभग एक खाई होती है। आध्यात्मिक अनुभूति सदा सीधे आन्तर चेतना में होती है, और वह तुम्हारी बाह्य चेतना में प्रतिबिम्बित हो जाती है और तुम्हारी शिक्षा, श्रद्धा और मानसिक धारणा के अनुसार उसकी कोई-न-कोई व्याख्या हो जाती है। सत्य तो एक ही है, सद्वस्तु तो एक ही है, किन्तु जिन रूपों द्वारा उसकी अभिव्यक्ति की जा सकती है वे अनेक हैं।

——'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. २१-२२

यहाँ पर हमारा कोई धर्म नहीं है। हम धर्म के स्थान पर आध्यात्मिक जीवन को रखते हैं जो एक ही साथ अधिक सच्चा, अधिक गहरा और अधिक ऊँचा है, यानी, भगवान् के अधिक निकट है। क्योंकि भगवान् हर चीज़ में हैं, परन्तु हम उनके बारे में सचेतन नहीं हैं। यही वह विशाल प्रगति है जो मनुष्य को करनी चाहिये।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १३, पृ. ११६

आध्यात्मिक जीवन

आध्यात्मिक जीवन तथा सामान्य जीवन

अध्यात्म जीवन, धार्मिक जीवन तथा सामान्य मानव जीवन—जिनमें नैतिकता का एक अंश हमेशा होता है—ये तीनों एकदम भिन्न चीज़ें हैं और व्यक्ति को यह जानना चाहिये कि वह किसकी इच्छा रखता है, उसे तीनों में घालमेल नहीं करना चाहिये। साधारण जीवन वह औसत मानव जीवन है जिसे मनुष्य अपने सच्चे स्व तथा भगवान् से अलग होकर, मन, प्राण तथा शरीर की सामान्य आदतों से बँध कर, यानी अज्ञान के नियमों के अधीन होकर, बिताता है। धार्मिक जीवन उसी समान अज्ञानी मानव चेतना की वह क्रिया है जिसमें मनुष्य पृथ्वी से मुँह मोड़ कर, भगवान् की ओर मुड़ने की कोशिश करता है, लेकिन अभी तक उसके पास ज्ञान नहीं होता और वह किन्हीं ऐसे हठधर्मी सिद्धान्तों या किसी सम्प्रदाय या धर्मपन्थ के नियमों का अनुसरण करता है जो पार्थिव चेतना की बेड़ियों से छूट कर किसी आनन्दमय परे के लोक को पाने का दावा करते हैं। हो सकता है कि धार्मिक जीवन आध्यात्मिक जीवन की ओर पहली पहुँच हो, लेकिन बहुधा यह परिणाम के बिना, बस धार्मिक अनुष्ठानों, रीति-रिवाजों, अभ्यासों या बँधे-बँधाये विचारों और आकारों के चारों ओर गोल-गोल चक्कर लगाना ही होता है। इसके विपरीत, आध्यात्मिक जीवन चेतना के बदलाव द्वारा, साधारण, अज्ञानी चेतना—जो अपने सच्चे स्व तथा 'भगवान्' से अलग हो गयी है—उसके परिवर्तन द्वारा, सीधा एक ऐसी महानतर चेतना की ओर अग्रसर हो जाता है जिसमें व्यक्ति अपनी सच्ची चेतना को पा लेता है और पहले उसके साथ प्रत्यक्ष तथा जीवन्त सम्पर्क में आता है और फिर 'भगवान्' के साथ तदात्म हो जाता है। आध्यात्मिक जिज्ञासु में चेतना के इसी परिवर्तन की ललक रहती है, और कुछ भी उसके लिए कोई मायने नहीं रखता।

नैतिकता साधारण जीवन का ही हिस्सा है; यह बाहरी जीवन को किन्हीं मानसिक नियमों द्वारा चलने या इन नियमों के द्वारा किसी विशेष मानसिक आदर्श की रचना करने का प्रयास है। आध्यात्मिक जीवन मन के परे जाता है; वह 'आत्मा' की गभीरतर चेतना में प्रवेश करता और

उस 'आत्मा' के सत्य के अनुसार क्रिया करता है। रही बात मानवजाति के जीवन और भगवान् को चरितार्थ करने की उसकी आवश्यकता की, तो यह इस पर निर्भर करता है कि जीवन में उसे अपने किन उद्देश्यों को चरितार्थ करना है। अगर उसका उद्देश्य आध्यात्मिक चेतना में प्रवेश करना है तो मात्र नैतिकता उसे वहाँ तक कभी नहीं पहुँचा सकेगी।

CWSA खण्ड २८, पृ. ४१९-२०

आध्यात्मिक जीवन और चमत्कार

वास्तव में इसी माँग (चमत्कार की माँग) के ऊपर अधिकतम धर्म स्थापित हैं और, उन्होंने ऐसे कारणों से, जिन्हें मैं बहुत स्पष्ट रूप में "राजनीतिक" कह सकती हूँ, अपने मूल में कम या अधिक पर्याप्त संख्या में चमत्कारों को रखा है जिन्हें उनके संस्थापकों ने कर दिखाया था, और इस प्रकार उन्होंने अज्ञ लोगों में न्यूनाधिक भद्दे रूप में इस प्रवृत्ति को, किसी व्यक्ति की दिव्य शक्ति में विश्वास करने के लिए उस चीज़ को देखने की आवश्यकता को प्रोत्साहित किया है जिसे वे "चमत्कार" कहते हैं। यह एक असाधारण अज्ञान है, क्योंकि चमत्कार करने के लिए किसी दिव्य शक्ति या चेतना का होना बिलकुल आवश्यक नहीं है। सच पूछा जाये तो उच्चतर क्षेत्रों की चेतना में रह कर अन्य समस्त लोकों के केवल माध्यम से प्रकृति पर कार्य करने की अपेक्षा प्राण-जगत् की छोटी-छोटी सत्ताओं की सहायता से चमत्कार दिखाना अनन्तगुना अधिक आसान है, क्योंकि वे सत्ताएँ भौतिक जगत् के संस्पर्श में आने और उस पर क्रिया करने के लिए काफ़ी स्थूल हैं। सभी बुद्धिमान् लोगों से यह बार-बार कहा गया है कि किसी व्यक्ति की दिव्यता का सबूत यह है कि वह मृत व्यक्ति को उठा दे, रोगों का निवारण कर दे और उसी प्रकार के अन्य बहुत-से कार्य कर सके। हाँ, मैं विश्वास दिलाती हूँ कि यह कोई सबूत नहीं है; यह केवल एक ही चीज़ सिद्ध करता है कि ये "गुरु" प्राण-जगत् की शक्तियों के सम्पर्क में रहते हैं और उन सत्ताओं की सहायता से वे ये सब चमत्कार कर सकते हैं, बस, इतना ही।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. ९६-९७

आध्यात्मिक जीवन और ध्यान

ध्यान में बिताये गये घण्टे आध्यात्मिक प्रगति का प्रमाण नहीं हैं। आध्यात्मिक प्रगति का प्रमाण तो तब होगा जब यह अवस्था आ जाये कि ध्यान करने के लिए तुम्हें किसी प्रकार का प्रयास ही न करना पड़े, ध्यान को रोकने के लिए भले ही प्रयास की आवश्यकता हो। तब ऐसी अवस्था हो जाती है कि ध्यान को रोकना कठिन हो जाता है; भगवान् के चिन्तन को रोकना, साधारण चेतना में नीचे उतरना कठिन हो जाता है। जब भगवान् में एकाग्रता तुम्हारे जीवन की परम आवश्यकता बन जाये, जब तुम उसके बिना रह ही न सको, तुम चाहे किसी काम में क्यों न लगे रहो, जब यह अवस्था स्वाभाविक रूप से रात-दिन बनी रहे—तब समझना चाहिये कि निश्चित रूप से तुम्हारी प्रगति हुई है, तुमने वास्तविक उन्नति की है। चाहे तुम ध्यान लगा कर बैठो या घूमो-फिरो और काम-काज करो, जिस बात की तुमसे अपेक्षा की जाती है वह है चेतना। यही एकमात्र आवश्यकता है—भगवान् के बारे में सदा-सर्वदा सचेतन रहना।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. २४

हम चाहते हैं कि प्रत्येक कर्म करते समय, प्रत्येक क्षण, हमारी समस्त क्रियाओं और प्रत्येक गति में, हमारी चेतना भगवान् में केन्द्रित रहे। यहाँ कुछ साधक ऐसे हैं जिनसे ध्यान करने को कहा गया है, किन्तु ऐसे साधक भी हैं जिन्हें किसी प्रकार का भी ध्यान करने को नहीं कहा गया। परन्तु इससे यह न समझना चाहिये कि ध्यान न करने वालों की प्रगति नहीं हो रही है। वे भी एक साधना करते हैं, किन्तु वह दूसरे प्रकार की साधना है। भक्ति और आन्तरिक उत्सर्ग के साथ कर्म करना, कार्य करना भी आध्यात्मिक साधना है। अन्तिम उद्देश्य यह है कि केवल ध्यान में ही नहीं, बल्कि प्रत्येक अवस्था में, जीवन की प्रत्येक क्रिया में भगवान् के साथ सतत एकता का अनुभव किया जाये।

कुछ लोग ऐसे हैं जो जब ध्यान में बैठते हैं तो एक ऐसी अवस्था में चले जाते हैं जिसे वे बहुत ही सुन्दर और आनन्दमयी समझते हैं। वे इस अवस्था में आत्मतुष्ट हो बैठे रहते हैं और जगत् को भूल जाते हैं; किन्तु यदि उनके ध्यान में कोई बाधा पहुँचे तो वे उस अवस्था में से क्षुब्ध और

क्रुद्ध होकर निकलते हैं, क्योंकि उनके ध्यान में बाधा पड़ी। यह किसी आध्यात्मिक प्रगति या साधना का लक्षण नहीं है। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो ऐसा आचरण करते हैं मानों उन्हें लगता हो कि ध्यान भगवान् का कर्ज़ा चुकाने के लिए है। ये उन लोगों की तरह हैं जो सप्ताह में एक बार गिरजाघर हो आते हैं और समझते हैं कि उन्होंने भगवान् का सारा पावना चुका दिया।

यदि तुम्हें ध्यान करने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है तो अभी तुम आध्यात्मिक जीवन जी सकने की अवस्था से बहुत दूर हो। जब ध्यानावस्था से बाहर निकलने के लिए प्रयत्न करने की आवश्यकता हो तब, असल में, तुम्हारा ध्यान इस बात का संकेत हो सकेगा कि तुम आध्यात्मिक जीवन जी रहे हो।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. २५-२६

आध्यात्मिक अनुशासन और आध्यात्मिकता

हठयोग और राजयोग जैसी कुछ ऐसी साधनाएँ भी हैं जिनका अभ्यास करते हुए भी, हो सकता है कि साधक का आध्यात्मिक जीवन से कोई सम्बन्ध न हो। अधिकतर हठयोग द्वारा शरीर पर और राजयोग द्वारा मन पर संयम हो जाता है। परन्तु आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश करने का अर्थ है भगवान् में गोता लगाना, ठीक उसी तरह जैसे कोई समुद्र में कूद पड़े। और यह भी केवल आरम्भ है, अन्त नहीं। क्योंकि गोता लगाने के बाद तुम्हें भगवान् में निवास करना सीखना होगा। इसका क्या उपाय है? तुम्हें सीधे कूद पड़ना चाहिये, यह सोचे बिना कि 'मैं कहाँ गिरूँगा, मेरी क्या दशा होगी।' तुम्हारे मन की झिझक ही है जो तुम्हें रोकती है। तुम्हें अपने-आपको छोड़ देना चाहिये। यदि तुम समुद्र में गोता लगाना चाहो और साथ-ही-साथ यह सोचते रहो कि कहीं आस-पास कोई पत्थर या चट्टान न हो, तो तुम गोता नहीं लगा सकते।

परन्तु समुद्र तो दिखायी देता है इसलिए उसमें सीधे गोता लगाया जा सकता है। किन्तु आध्यात्मिक जीवन में गोता कैसे लगाया जाये?

अवश्य ही, जैसे तुम समुद्र को देखते हो और उसमें कूदने से पहले उसके विषय में कुछ जानते हो उसी तरह तुम्हें 'भागवत सद्वस्तु' की भी कोई झाँकी प्राप्त होनी चाहिये।

यह झाँकी साधारणतया चैत्य चेतना की जाग्रति के रूप में होती है। पर किसी-न-किसी प्रकार का साक्षात्कार तुम्हें अवश्य होना चाहिये—यदि चैत्य अथवा सर्वांगीण गभीर सम्पर्क न भी हुआ हो फिर भी कम-से-कम एक बलवान् मनोमय या प्राणमय सम्बन्ध अवश्य स्थापित हो चुकना चाहिये। तुम्हें अपने अन्दर या अपने आस-पास 'भगवान् की उपस्थिति' का स्पष्ट अनुभव हुआ होगा; तुमने 'भागवत' जगत् में श्वास लेने का अनुभव भी किया होगा। इसकी तुलना में तुमने साधारण जगत् के श्वास के दमघोटू दबाव का भी अनुभव किया होगा, जो तुम्हें इस पीड़ादायक वातावरण से बाहर निकल आने का प्रयत्न करने के लिए बाध्य करता है। यदि यह अनुभव हो चुका हो तो बस, अब तुम्हें 'भागवत सद्वस्तु' में निःशेष भाव से आश्रय लेना चाहिये और उसकी सहायता और संरक्षण में रहना चाहिये, केवल उसी में। अपने साधारण जीवन में अभी तक जो कुछ तुमने आंशिक रूप में अथवा अपनी सत्ता के कुछ भागों में, या किन्हीं विशेष समयों या अवसरों पर किया होगा, उसी को अब तुम्हें पूर्ण रूप से सदा के लिए करना है। यही वह डुबकी है जो तुम्हें लगानी है और जब तक तुम यह नहीं करते, तब तक वर्षों योग करने पर भी सच्चे आध्यात्मिक जीवन के सम्बन्ध में तुम कुछ भी न जान सकोगे। सर्वस्व के साथ, पूरी तरह से डुबकी लगाओ और तुम इस बाह्य उलझन और दुविधा से मुक्त हो जाओगे और आध्यात्मिक जीवन का सच्चा अनुभव प्राप्त कर लोगे।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. २६-२७

आध्यात्मिकता और वैराग्य

मन के बनाये हुए किन्हीं नियमों में आसक्ति होना इस बात का सूचक है कि अब भी कहीं पर अन्धापन छिपा हुआ है। उदाहरण के लिए, इस सार्वजनिक अन्ध-विश्वास को ले लो जो समस्त जगत् में फैला हुआ है कि संन्यास और योग एक ही हैं। यदि तुम योगी अथवा योगिनी कह कर किसी का परिचय दो तो तुरत उस व्यक्ति के बारे में लोग यही कल्पना

करने लगेंगे कि वह व्यक्ति कोई ऐसा होगा जो खाता नहीं अथवा सारे दिन एक आसन पर बिना हिले-डुले बैठा रहता है, किसी कुटिया में अत्यन्त दरिद्रतापूर्वक रहता है, जिसने अपना सब कुछ दे दिया है और अपने लिए कुछ भी नहीं रखा। जब किसी आध्यात्मिक मनुष्य के सम्बन्ध में किसी से कुछ कहा जाता है तो निन्यानबे प्रतिशत लोगों के मन में उस व्यक्ति के सम्बन्ध में इसी प्रकार का चित्र खिंच जाता है; इनके लिए आध्यात्मिकता का एकमात्र सबूत है दरिद्रता तथा सुखद या आरामदेह चीज़ों से परहेज़। यह एक मानसिक रचना है और यदि तुम आध्यात्मिक सत्य का साक्षात्कार और अनुसरण करने के लिए स्वतन्त्र होना चाहते हो तो इसे नष्ट करना होगा। कारण, आध्यात्मिक जीवन में तुम सच्ची अभीप्सा के साथ प्रवेश करते हो और चाहते हो कि तुम अपनी चेतना और जीवन में भगवान् से भेंट करो तथा उनका साक्षात्कार करो; तब तुम एक ऐसे स्थान पर जा पहुँचते हो जिसे किसी तरह भी कुटिया नहीं कहा जा सकता और वहाँ तुम्हारी एक ऐसे आध्यात्मिक पुरुष से भेंट होती है जो सुखमय जीवन व्यतीत कर रहा है, सब कुछ खाता है, उसके चारों ओर सुन्दर या अमीरी चीज़ों का ठाठ है, जो कुछ उसके पास है उसे वह ग़रीबों को बाँट नहीं देता, बल्कि लोग जो भेंट चढ़ाते हैं उसे स्वीकार करता और उसका उपभोग करता है। यह देख कर तुम अपने बँधे हुए मानसिक नियम के अनुसार तुरत घबरा जाते और चिल्ला उठते हो : "क्यों, यह सब क्या है? मैंने तो सोचा था कि मेरी भेंट किसी योगी से होगी!" इस मिथ्या धारणा को तोड़ना ही होगा, मिटाना ही होगा। यह धारणा विलीन हो जाये तो तुम्हें कुछ ऐसी चीज़ प्राप्त होगी जो तुम्हारे वैराग्य के संकीर्ण सिद्धान्त से बहुत श्रेष्ठ होगी, तुम्हारा पूर्ण आत्मोद्घाटन हो सकेगा जिसके फलस्वरूप तुम्हारी सत्ता मुक्त रहेगी। यदि तुम्हें कोई चीज़ प्राप्त होती हो तो उसे स्वीकार करो और यदि उसी चीज़ को छोड़ देना हो तो उसी तत्परता के साथ छोड़ दो। चीजें आयें तो उन्हें स्वीकार करो और चली जायें तो जाने दो, लेते और छोड़ते समय समता की वही मुस्कान बनी रहे।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. ६१-६२

"अन्त भला तो सब भला" और अन्त भला ही होगा। —श्रीमाँ

तपस्वियों के तरीक़े तथा आत्म-संयम

माताजी, क्या आत्म-संयम के लिए कभी-कभी तपस्वियों के तरीक़े उपयोगी नहीं होते?

नहीं! उनसे कोई लाभ नहीं होता। तुम बस, अपने-आपको इस भ्रम में रखते हो कि तुमने प्रगति कर ली है, परन्तु उससे लाभ कुछ नहीं होता। इसका प्रमाण यह है कि अगर तुम तपस्वियों के-से अपने तौर-तरीक़े बन्द कर दो तो चीज़ पहले से भी ज़्यादा मज़बूत हो जाती है; वह बदला चुकाने वापिस आ जाती है। यह इस पर निर्भर करता है कि तुम किन चीज़ों को तपस्वियों के तौर-तरीक़े कहते हो। अगर इसका मतलब हो, अपनी सभी कामनाओं को तुष्ट करने में न लगे रहना, तो यह वास्तव में तपस्या नहीं, सामान्य बुद्धि है। यह अलग चीज़ है। तपस्या के अनुशीलन का मतलब है, बार-बार उपवास करना, अपने-आपको शीत सहने के लिए बाधित करना... वस्तुतः, अपने शरीर को कुछ यन्त्रणा देना। वास्तव में, इससे तुम्हारे अन्दर आध्यात्मिक अभिमान पैदा होता है, इससे बढ़ कर कुछ नहीं। इससे किसी चीज़ पर स्वामित्व नहीं होता। यह अनन्तगुना आसान है। लोग यह इसलिए करते हैं क्योंकि यह बहुत आसान है, सीधा-सादा है। चूँकि इससे अभिमान को सन्तोष मिलता है, सिर दर्प से फूल उठता है, इसलिए यह बहुत सरल हो जाता है। तुम अपने तपस्वी के गुणों का बड़ा प्रदर्शन करते हो, और इस तरह अपने-आपको महत्त्वपूर्ण व्यक्ति मान बैठते हो, और इससे बहुत-सी चीज़ें सहने में सहायता मिलती है।

अपने आवेगों को चुपचाप प्रकृतिस्थ होकर वश में करना और बिना तपस्वी का अनुशीलन अपनाये उन्हें प्रकट होने से रोकना बहुत अधिक कठिन है—बहुत अधिक! अपने पास कुछ भी न रखने की अपेक्षा जो चीज़ें तुम्हारे पास हैं उनके साथ आसक्त न होना बहुत अधिक कठिन है। यह बात सदियों से ज्ञात है। सम्पत्ति के बिना रहने या अपनी चीज़ों को कम-से-कम कर देने की अपेक्षा, तुम्हारे पास जो कुछ है उससे आसक्त न होने के लिए बहुत ज़्यादा क्षमता की ज़रूरत होती है। यह बहुत अधिक कठिन है। यह नैतिक मूल्य की दृष्टि से ज़्यादा श्रेष्ठ स्तर की चीज़ है। बस, यही वृत्ति हो : जब कोई चीज़ तुम्हारे पास आये तो ले लो, उसका

उपयोग करो; जब किसी कारण से वह चली जाये तो खेद मत करो, जाने दो। जब वह आये तो मना मत करो, अपने-आपको अनुकूल बनाना सीखो और वह चली जाये तो खेद मत करो।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. ४८२-८४

आध्यात्मिक और नैतिक जीवन

आध्यात्मिक जीवन सबके अन्दर उपस्थित सार वस्तु का दर्शन कराता है, लेकिन साथ ही उसके अनन्त वैचित्र्य भी दिखाता है; यह एकता में विविधता और फिर उस विविधता में पूर्णता को सिद्ध करने की चेष्टा करता है। नैतिकता एक ही कृत्रिम मानदण्ड को उठा लेती है जो जीवन के वैचित्र्य और आत्मा की स्वतन्त्रता के विपरीत है। वह एक बँधी हुई, मर्यादित और मानसिक वस्तु की सृष्टि करके यह माँग करती है कि सभी उसके अनुसार चलें। हर व्यक्ति एक ही प्रकार के गुणों और एक ही प्रकार के आदर्श स्वभाव को प्राप्त करने के लिए परिश्रम करे। नैतिकता न तो दिव्य है और न भगवान् की है; यह मनुष्य की है और मानवीय है। नैतिकता भले और बुरे के बीच स्थायी विभाजन को अपना आधार-तत्त्व मानती है; किन्तु यह मनमानी धारणा है। यह सापेक्षिक चीज़ों को निरपेक्ष के रूप में आरोपित करने की चेष्टा है; क्योंकि यह अच्छा और बुरा भिन्न जलवायु और भिन्न समयों में, भिन्न युगों और भिन्न देशों में बदलता रहता है, नैतिकता का विचार यहाँ तक जाता है कि वह कहता है कि कामनाएँ भी अच्छी या बुरी होती हैं और वह अच्छी को स्वीकारने और बुरी को त्यागने के लिए कहता है। परन्तु आध्यात्मिक जीवन की तो यह माँग है कि तुम कामना मात्र का त्याग करो। उसका नियम है कि जो गतियाँ भगवान् से दूर ले जाती हों उन्हें अपने से दूर करो; इसलिए नहीं कि वे अपने-आपमें बुरी हैं,—कारण, वे किसी और के लिए अथवा किसी दूसरे क्षेत्र में अच्छी हो सकती हैं,—बल्कि इसलिए कि उनका सम्बन्ध उन आवेगों या शक्तियों से है जो अँधेरी और अज्ञानमयी होने के कारण भगवान् के पास पहुँचने के मार्ग में बाधा पहुँचाती हैं। सभी कामनाएँ, चाहे अच्छी हों या बुरी, इसी व्याख्या के अन्तर्गत हैं, कारण, कामना मात्र का उद्भव अँधेरी प्राणिक सत्ता और उसके अज्ञान से होता है। दूसरी ओर, तुम्हें उन

सभी गतियों को स्वीकारना चाहिये जो भगवान् के सम्पर्क में लाने वाली हों। परन्तु तुम उन्हें इसलिए नहीं स्वीकारते कि वे अपने-आपमें अच्छी हैं, बल्कि इसलिए कि वे तुम्हें भगवान् के पास पहुँचाती हैं। अतएव, जो कुछ तुम्हें भगवान् के पास ले जाता हो उसे स्वीकार करो और जो कुछ उनसे दूर ले जाता हो उसका त्याग करो, किन्तु यह मत कहो कि यह अच्छा है और वह बुरा है अथवा अपने दृष्टिकोण को दूसरे पर थोपने की चेष्टा मत करो; क्योंकि जिस चीज़ को तुम बुरा ठहराते हो वही चीज़ तुम्हारे पड़ोसी के लिए, जो दिव्य जीवन को संसिद्ध करने का प्रयास नहीं कर रहा है, अच्छी हो सकती है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. १३४-३५

नैतिक तथा आध्यात्मिक शुद्धि

उदाहरण के लिए, यदि तुम नैतिक दृष्टिकोण को अपनी नींव बनाओ —जो अपने-आपमें आध्यात्मिक दृष्टि से बिलकुल ग़लत है—तो ऐसे लोग हैं जो ऊपर से देखने में ऐसा जीवन बिताते हैं जो पूरी तरह नैतिक मालूम होता है, जो सभी सामाजिक नियमों, सभी रिवाजों, नैतिक परिपाटियों के अनुसार चलते हैं और जो अशुद्धियों का ढेर होते हैं—आध्यात्मिक दृष्टि से वे बहुत गभीर अपवित्र सत्ताएँ हैं। इसके विपरीत, कुछ बेचारे हैं जो चीज़ें करते हैं... जो, उदाहरण के लिए, आज़ादी का भाव लेकर पैदा हुए हैं और ऐसी चीज़ें करते हैं जो सामाजिक या नैतिक दृष्टि से बहुत आदरणीय नहीं मानी जातीं, लेकिन हो सकता है कि वे आन्तरिक अभीप्सा और आन्तरिक सच्चाई की अवस्था में हों और इस कारण वे औरों की अपेक्षा कहीं अधिक शुद्ध हों। यह बहुत बड़ी कठिनाइयों में से एक है। जैसे ही इन चीज़ों की बात की जाये कि तुरन्त चेतना में सभी सामाजिक और नैतिक परिपाटियों के द्वारा पैदा किया गया विकार आ जाता है। जैसे ही तुम शुद्धि की बात करो तुम्हारे आगे एक नैतिक कीर्ति-स्तम्भ-सा आ खड़ा होता है जो तुम्हारी धारणा को पूरी तरह मिथ्या बना देता है। ध्यान रखो कि आध्यात्मिक दृष्टि से नैतिक होने की अपेक्षा सामाजिक दृष्टि से नैतिक होना कहीं अधिक सरल है। सामाजिक दृष्टि से नैतिक होने के लिए केवल इतना ख़याल रखना काफ़ी है कि तुम कोई ऐसी चीज़ न करो

जिसे दूसरे पसन्द न करते हों। यह कुछ कठिन हो सकता है, पर असम्भव नहीं है; और जैसा कि मैंने कहा, यह करते हुए भी आदमी कपट और अशुद्धि का पुतला हो सकता है। जब कि आध्यात्मिक दृष्टि से शुद्ध होने का मतलब है, एक ऐसी जागरूकता, ऐसी चेतना, ऐसी निष्कपटता जो हर कसौटी पर खरी उतरे।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. ४९४-९५

आध्यात्मिक जीवन के लिए तत्परता

क्या ऐसे चिह्न हैं जो यह सूचित करते हों कि मनुष्य इस पथ के लिए तैयार हो गया है, विशेषकर तब जब कि मनुष्य को कोई आध्यात्मिक गुरु न प्राप्त हो?

हाँ, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण लक्षण है सभी परिस्थितियों में आत्मा की पूर्ण समता का होना। यह पूर्णतः अनिवार्य आधार है; यह बहुत स्थिर, अचञ्चल, शान्तिपूर्ण वस्तु है, महान् शक्ति का बोध है। वह स्थिरता नहीं जो तामसिकता से आती है बल्कि एक एकाग्रीभूत शक्ति-सामर्थ्य का बोध जो तुम्हें सर्वदा अटल बनाये रखता है, चाहे जो कुछ भी क्यों न घटित हो, यहाँ तक कि ऐसी परिस्थितियों में भी जो तुम्हें अपने जीवन में अत्यन्त भयानक प्रतीत होती हैं। यह है पहला चिह्न।

दूसरा चिह्न है : तुम अपनी साधारण स्वाभाविक चेतना में पूर्णतः कारारुद्ध अनुभव करते हो, मानों किसी अत्यन्त कठोर वस्तु में, दम घोंटने वाली और असह्य वस्तु में तुम अवरुद्ध होओ, मानों तुम्हें किसी लौह दीवाल में छिद्र बनाना पड़ रहा हो। और यन्त्रणा लगभग असह्य हो उठती है, गला घोंटने जैसा महसूस होता है; तोड़ कर निकल जाने का एक आन्तरिक प्रयास होता है और तुम तोड़ कर निकल नहीं पाते। यह भी एक प्रकार से पहले चिह्नों में से एक है। इसका तात्पर्य है कि तुम्हारी आन्तरिक चेतना एक ऐसे बिन्दु पर पहुँच गयी है जहाँ उसका बाहरी ढाँचा उसके लिए अत्यधिक तंग हो गया है—साधारण जीवन का, साधारण क्रिया-कलापों का, साधारण सम्बन्धों का ढाँचा, वह सब इतना छोटा, इतना तुच्छ हो गया है कि तुम अपने अन्दर उन सबको तोड़ देने की शक्ति का अनुभव करते हो।

एक और चिह्न भी है : जब तुम एकाग्र होते हो और तुम्हारे अन्दर एक अभीप्सा होती है तो तुम अपने अन्दर किसी चीज़ को नीचे उतरते हुए अनुभव करते हो, तुम एक उत्तर पाते हो; तुम एक प्रकार की ज्योति, शान्ति, शक्ति को नीचे आते हुए अनुभव करते हो; और लगभग तुरत—तुम्हें प्रतीक्षा करने की या बहुत लम्बा समय बिताने की ज़रूरत नहीं होती—बस, केवल एक आन्तरिक अभीप्सा, एक पुकार उठती है, और उत्तर आ जाता है। इसका भी यही मतलब है कि सम्बन्ध अच्छी तरह स्थापित हो गया है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. ११३-१४

आध्यात्मिक पथ में प्रवेश

हम कब यह कह सकते हैं कि हम वास्तव में आध्यात्मिक पथ में प्रविष्ट हो चुके हैं?

इसका पहला लक्षण (प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक ही बात नहीं कही जा सकती), मैं समझती हूँ, समय के क्रमानुसार, यह है कि अन्य प्रत्येक चीज़ तुम्हें एकदम महत्त्वहीन प्रतीत होने लगती है। तुम्हारा सारा जीवन, तुम्हारे सभी क्रिया-कलाप, तुम्हारी समस्त गतिविधियाँ जारी रहती हैं यदि परिस्थितियाँ उन्हें वैसा ही बनाये रखें, परन्तु वे सब तुम्हें अब एकदम महत्त्वहीन प्रतीत होती हैं; अब यही सब तुम्हारे जीवन का सच्चा तात्पर्य नहीं रह जाता। मैं समझती हूँ, यही पहला लक्षण है।

फिर दूसरा लक्षण भी हो सकता है। उदाहरणार्थ, तुम्हें यह भान हो सकता है कि प्रत्येक चीज़ बदली हुई है, तुम अब भिन्न रूप में जीवन बिता रहे हो, तुम्हारे मन में एक ज्योति है जो पहले नहीं थी, तुम्हारे हृदय में एक शान्ति है जो वहाँ पहले नहीं थी। इससे कुछ परिवर्तन आता तो है, पर सामान्यतया सुनिश्चित परिवर्तन कुछ दिन बाद आता है, बहुत विरल प्रसंगों में आरम्भ में आता है; आरम्भ में जब मनुष्य आध्यात्मिक जीवन ग्रहण करने का निर्णय करता है तो चेतना में एक प्रकार का परिवर्तन आने के समय बस एक झलक मिलती है। कभी-कभी इसका आरम्भ इस तरह होता है : तुम्हारे अन्दर एक महान् प्रदीप्ति, एक महान् हर्ष प्रवेश कर जाता है; परन्तु साधारणतया उसके बाद वह पृष्ठभूमि में चला जाता है,

क्योंकि बहुत सारी अपूर्णताएँ अभी तक तुम्हारे अन्दर विद्यमान हैं...। वह कोई घृणा नहीं होती, तिरस्कार का भाव नहीं होता, लेकिन प्रत्येक चीज़ तुम्हें इतनी उबाऊ मालूम होती है कि उसमें लगे रहने का कष्ट उठाना वास्तव में उचित नहीं प्रतीत होता। उदाहरणार्थ, जब तुम किन्हीं भौतिक परिस्थितियों से घिरे होते हो, चाहे वे सुखदायी हों या दुःखदायी (दोनों छोर मिलते हैं) तो तुम अपने-आपसे कहते हो, "ओह, यह सब मेरे लिए कितना महत्त्वपूर्ण था! पर अब इसका बिलकुल ही कोई मूल्य नहीं!" तुम्हें ऐसा लगता है कि तुम सचमुच दूसरे छोर की ओर मुड़ गये हो।

कुछ लोगों का ख़याल है कि आध्यात्मिक जीवन का चिह्न है एक कोने में चुपचाप बैठ जाना और ध्यान करना! यह बहुत, बहुत अधिक प्रचलित धारणा है। मैं कठोर होना नहीं चाहती, परन्तु जो लोग ध्यान करने की अपनी क्षमता के विषय में गर्व करते हैं, उनमें से, मुझे नहीं लगता कि, अधिकतर व्यक्ति एक घण्टे में एक मिनट भी ध्यान करते हों। जो लोग सचमुच ध्यान करते हैं वे उसके विषय में कभी गर्व नहीं करते; उनके लिए यह एक बिलकुल स्वाभाविक चीज़ होती है। जब यह एक स्वाभाविक चीज़ बन जाती है और उसमें गौरव अनुभव करने का कुछ नहीं रहता, तुम अपने-आपसे कह सकते हो कि तुम प्रगति कर रहे हो। जो लोग इस विषय में बहुत बातें करते हैं और समझते हैं कि यह चीज़ उन्हें बाक़ी मनुष्यों की तुलना में एक प्रकार का बड़प्पन प्रदान करती है, उनके विषय में तुम निश्चित रूप से यह मान सकते हो कि वे अपना अधिकांश समय पूर्ण जड़ता की स्थिति में बिताते हैं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. १२०-२२

'अनुभूतियाँ' और उनकी उपयोगिता

अगर तुम्हें प्राणिक अनुभूतियाँ होती हैं—उदाहरण के लिए, अन्तर्दर्शन —पर्याप्त मानसिक तैयारी के बिना प्राणिक अनुभूतियाँ होती हैं, तो इनसे सन्तुलन बिगड़ सकता है, और हर हालत में, जो हो रहा है उसके बारे में तुम कुछ भी नहीं समझ सकते, और यह अगर हानिकर नहीं तो लगभग बेकार तो है ही। दूसरी ओर, अगर पहले तुम अपनी समझ को विकसित कर लो, तुमने अध्ययन किया हो, तुम समझते हो और चीज़ों का कारण

जानते हो, उदाहरण के लिए, तुम्हें योग का लक्ष्य मालूम हो, और तुमने उसे प्राप्त करने के साधनों का अध्ययन किया हो—वास्तव में, विषय को मानसिक रूप से समझ लिया हो—तो उस समय, जब अनुभूति आये तो यह सम्भव रहता है कि तुम कुछ समझ सको कि यह क्या है; अन्यथा तुम कुछ नहीं समझ पाते। आने वाली अनुभूतियों को थोड़ा-बहुत समझने के लिए काफ़ी मानसिक तैयारी की ज़रूरत होती है—पूरी न सही, कम-से-कम कुछ हद तक तो ज़रूरी है ही।

सामान्य अर्थ में 'अनुभूतियाँ'

साधारणतः लोग "अनुभूति" का अर्थ करते हैं एकदम अजीब-सी अस्वाभाविक घटना, जैसे अणिमा आदि सिद्धियाँ या सनसनीदार अन्तर्दर्शन : भविष्य देख सकना, बहुत दूर तक देख सकना, या फिर, मामूली चीज़ें, जैसे यह बता सकना, खोई हुई चीज़ कहाँ मिलेगी, या इसी तरह की छोटी-मोटी करामातें।

लोग इन चीज़ों को "अनुभूतियाँ" कहते हैं।

हाँ, तो साधारणतः जिन लोगों में ये क्षमताएँ होती हैं वे सुशिक्षित नहीं होते, लेकिन किसी कारण से वे प्रतिभा लेकर जन्म लेते हैं, जैसे कुछ जन्म से संगीतकार, चित्रकार या वैज्ञानिक होते हैं। ये जन्म से सूक्ष्मद्रष्टा होते हैं, तो, ऐसा हो सकता है कि आवश्यकता पड़ने पर वे अपनी इस क्षमता का उपयोग आजीविका कमाने के लिए करें और उसे पूरी तरह बिगाड़ लें। अगर वे आरामदेह परिस्थितियों में हों और उन्हें कमाई करने की ज़रूरत न हो, तो वे अपने मित्रों में प्रसिद्ध हो जाते हैं। बहरहाल, यह हमेशा एक प्रकार के व्यापार के लिए अच्छा अवसर होता है। ऐसे बहुत ही कम हैं जिनमें ये क्षमताएँ तो हों पर वे नाम या धन कमाने के लिए इनका उपयोग न करें। परन्तु ये प्रतिभाएँ बहुत ऊँचे स्तर की नहीं होतीं। बहुत आध्यात्मिक जीवन के बिना भी ये तुम्हारे अन्दर हो सकती हैं। ये आन्तरिक आध्यात्मिक ऊँचाई पर बिलकुल निर्भर नहीं करतीं। इन्हें प्रगति का चिह्न मानने की भूल नहीं करनी चाहिये।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. ३९७, ३९९-४००

आध्यात्मिक अनुभूतियाँ पाना

आप आध्यात्मिक अनुभूति की बात कहती हैं। अनुभूति क्या होती है और उसे कैसे पाया जा सकता है?

यह ऐसी चीज़ है जो तुम्हें, जिस चेतना में तुम अधिकतर रहते हो उससे ज़्यादा ऊँची चेतना के सम्पर्क में ला देती है। तुम्हें अपने बारे में एक प्रकार का एहसास होता है, तुम्हें उसका भान भी नहीं होता, तुम्हारे लिए यह तुम्हारी सामान्य अवस्था है, समझे। अगर सहसा तुम अपने अन्दर किसी बहुत ही भिन्न और बहुत श्रेष्ठ चीज़ के बारे में सचेतन हो जाओ, वह चाहे कुछ भी क्यों न हो, तो यह आध्यात्मिक अनुभूति होगी। तुम उसे मानसिक विचार का रूप दे भी सकते हो और नहीं भी दे सकते; तुम उसे अपने-आपको समझा भी सकते हो और नहीं भी समझा सकते, वह टिक भी सकती है और नहीं भी टिक सकती, वह क्षणिक हो सकती है। लेकिन जब चेतना में यह तात्त्विक भेद हो और, स्वभावतः उसका जो स्वरूप आये अगर वह तुम्हारी सामान्य चेतना से... बहुत उच्चतर, स्पष्टतर और पवित्रतर हो, तो स्वभावतः कहा जा सकता है कि यह आध्यात्मिक अनुभूति है; इसका मतलब यह है कि अलग-अलग हज़ारों चीज़ें हैं जिन्हें आध्यात्मिक अनुभूति कहा जा सकता है।

क्या हमें आध्यात्मिक अनुभूति पाने के लिए अभीप्सा करनी चाहिये?

मेरा ख़याल है कि आध्यात्मिक अनुभूति के लिए अभीप्सा करने की अपेक्षा ज़्यादा बुद्धिमत्तापूर्ण है प्रगति के लिए या अधिक सचेतन होने के लिए या ज़्यादा अच्छा बनने या ज़्यादा अच्छा करने के लिए अभीप्सा करना; क्योंकि हो सकता है कि वह (आध्यात्मिक अनुभूतियों के लिए अभीप्सा) न्यूनाधिक काल्पनिक और ऐसी मिथ्या अनुभूतियों के लिए या प्राणिक गतिविधियों के लिए द्वार खोल दे जो उच्चतर चीज़ों का रूप धर कर आती हैं। तुम अनुभूति के लिए अभीप्सा के द्वारा अपने-आपको धोखा दे सकते हो। वास्तव में, अनुभूति को सहज रूप में आन्तरिक प्रगति के परिणामस्वरूप आना चाहिये, लेकिन अपने ही लिए या अपने-आप नहीं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. ४८६-८७

भौतिक जीवन तथा आध्यात्मिक जीवन

जो लोग आत्म-सिद्धि प्राप्त करने के लिए हमेशा जीवन से दूर भागने की इच्छा करते हैं उन्हें मैं असामान्य और अपूर्ण समझती हूँ। और वस्तुतः ये लोग साधारणतया दुर्बल स्वभाव के होते हैं। परन्तु जिन लोगों में बल-सामर्थ्य, शक्ति और एक प्रकार का स्वस्थ सन्तुलन होता है, वे अपनी आध्यात्मिक उपलब्धि को भौतिक रूप में संसिद्ध करने की ऐकान्तिक आवश्यकता अनुभव करते हैं। वे बादलों में या ऐसे जगतों में चले जाने से सन्तुष्ट नहीं होते जहाँ अब आकारों का कोई अस्तित्व नहीं होता। वे चाहते हैं कि उनकी भौतिक चेतना और उनका शरीर तक उनकी आन्तरिक अनुभूति में हाथ बँटाये।

अब, यह कहा जा सकता है कि किसी धर्म को, जैसा कि वह बना-बनाया मिल गया है, अंगीकार करने या उसका अनुसरण करने या उसमें भाग लेने की आवश्यकता बहुत कुछ मानव-प्राणियों में विद्यमान "दल-प्रवृत्ति" से उत्पन्न होती है। प्रत्येक व्यक्ति के लिए यथार्थ वस्तु होगी उस उपासना-पद्धति या धर्म-सम्प्रदाय को खोज निकालना जो उसका अपना है और सहज-स्वाभाविक तथा व्यक्तिगत रूप से भगवान् के साथ उसके अपने विशिष्ट सम्बन्ध को व्यक्त करता है; वही होगी आदर्श अवस्था।

दूसरी ओर, किसी धर्म को इसलिए अपनाना कि उस धर्म में हमारा जन्म हुआ है अथवा इसलिए कि हम जिन लोगों से प्यार करते और जिन पर विश्वास करते हैं वे लोग उसी धर्म का पालन करते हैं अथवा इसलिए कि जब हम किसी ऐसे विशेष स्थान पर जाते हैं जहाँ दूसरे प्रार्थना करते और पूजा करते हैं तो हमें अपनी निजी प्रार्थना तथा पूजा में सहायता मिलती प्रतीत होती है, यह किसी बहुत प्रबल स्वभाव का परिचायक नहीं है। मैं कहूँगी कि यह तो एक कमज़ोरी का अथवा हर हालत में मौलिकता के अभाव का चिह्न है।

परन्तु आन्तरिक अभीप्सा और आराधना को अपने भौतिक जीवन के रूपों में बदल देना बिलकुल न्यायसंगत है, और यह उस मनुष्य के कार्य से बहुत अधिक सच्चा कार्य है जो अपने को दो भागों में बाँट देता है, बिलकुल यन्त्रवत् तथा मामूली ढंग से भौतिक जीवन यापन करता है तथा, जब उसके लिए सम्भव होता है, जब उसे समय मिलता है अथवा जब यह

उसके अनुकूल होता है, स्वयं अपने अन्दर प्रवेश कर जाता है, भौतिक जीवन तथा भौतिक चेतना से बाहर निकल आता है और अपने आध्यात्मिक आनन्दों को प्राप्त करने के लिए सुदूर ऊँचाइयों पर चला जाता है।

जो व्यक्ति अपने भौतिक जीवन को अपनी उच्चतम अभीप्सा की अभिव्यक्ति बनाने की कोशिश करता है वह अवश्यमेव उस व्यक्ति की अपेक्षा अधिक उदात्त, अधिक उन्नत और अधिक सच्चा है जो अपने को यह कह कर दो भागों में बाँट देता है कि बाहरी जीवन का कोई महत्त्व नहीं है और यह कभी परिवर्तित नहीं होगा और इसे उसी रूप में स्वीकार करना होगा जैसा कि यह है और यथार्थ में मात्र आन्तरिक मनोभाव ही मूल्यवान् है। —'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. २९८-९९

'सत्य' को किसी विज्ञापन की आवश्यकता नहीं; वह अपने-आपको छिपाता नहीं, पर अपना ढिंढोरा भी नहीं पीटता। वह अपनी अभिव्यक्ति से ही सन्तुष्ट रहता है, परिणामों की ओर से वह बेपरवाह रहता है, उसे न तो स्तुति की खोज होती है, न वह निन्दा से भागता है। संसार उसे स्वीकार करे तो वह आकर्षित नहीं होता, और अस्वीकार किये जाने पर विचलित नहीं होता। जब तुम योग-मार्ग पर आओ तो तुम्हें मन के महल और प्राण की मचानों के ढहाये जाने के लिए तैयार रहना चाहिये। तुम्हें श्रद्धा के सिवाय किसी भी सहारे के बिना हवा में अधर लटकने के लिए तैयार रहना चाहिये। तुम्हें अपने भूतकाल के व्यक्तित्व को और उसकी आसक्तियों को एकदम भूल जाना होगा, उसे अपनी चेतना में से निकाल बाहर करना होगा तथा एक ऐसा नया जन्म लेना होगा जो समस्त बन्धनों से मुक्त हो। तुम क्या थे इसकी चिन्ता न करो, जो बनने की अभीप्सा करते हो केवल उसी का चिन्तन करो; जिस सिद्धि को प्राप्त करना चाहते हो केवल उसी में तन्मय हो जाओ। मृत भूतकाल की ओर से मुँह मोड़ लो और सीधे भविष्य की ओर देखो। तुम्हारा धर्म, देश, परिवार वहीं है; वह है स्वयं **"भगवान्"**।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. ९५

भगवान् अपने-आपको अपनी समस्त सृष्टि को देते हैं;
किसी एक धर्म के पास उनकी कृपा का एकाधिकार नहीं है।

—श्रीमाँ

धर्म तथा आध्यात्मिकता

चित्रों तथा प्रतिमाओं की स्थापना

उन प्रतिमाओं या चित्रों का जहाँ तक सम्बन्ध है, जिन्हें मन्दिर में स्थापित किया जाता है, उसके लिए एक धार्मिक अनुष्ठान किया जाता है, और यदि पुरोहित या उसका सहकर्मी ऐसा हो जिसे गुह्य शक्तियाँ प्राप्त हैं, यदि सीमित शक्तियाँ भी हों, तो वह, अपनी अभीप्सा के बल से और अनुष्ठान-पद्धति के द्वारा, एक अति-पार्थिव चेतना को उन आकारों में उतार ला सकता है। यही है सिद्धान्त; तुमसे कहा जाता है, "यह कोई लकड़ी का टुकड़ा नहीं है, यह कोई पत्थर नहीं है, यह कोई चित्र नहीं है; इसके अन्दर एक शक्ति है जिसे धार्मिक अनुष्ठान नीचे उतार लाया है और तुम इससे बातें कर सकते हो।" यह बात सही है, परन्तु तुम्हें मालूम होना चाहिये कि पुरोहित कैसा है, उसके गुह्य ज्ञान तथा जिन शक्तियों के साथ उसका सम्पर्क है उनका भी ज्ञान होना चाहिये। इस तरह इसमें बहुत-सी चीज़ें हो सकती हैं।... वहाँ "कोई चीज़" होती है (जब तक कि वहाँ कोई जड़ अनभिज्ञ व्यक्ति ही न हो जिसने अनुष्ठान को सम्पन्न किया हो, जिसमें बिलकुल कोई शक्ति न हो, जिसने कुछ भी नीचे न उतारा हो, जिसने महज़ दिखावा ही किया हो—परन्तु यह विरल ही होता है; मैं यह नहीं कह सकती कि ऐसा प्रायः ही होता है, यह बहुत विरल होता है), सामान्य तौर पर वहाँ कोई चीज़ होती है, पर तब प्रश्न उठता है इस चीज़ के स्वभाव का, उसके गुण का, समझे...

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. ४७६

धार्मिक रूप तथा आध्यात्मिक जीवन

धर्म हमेशा आत्मा के लिए सीमा-बन्धन होता है।

अगर किसी व्यक्ति में अपनी मानसिक रचनाओं से स्वतन्त्र और वह जिन बँधी हुई सीमाओं में रहता है उनके बावजूद एक आध्यात्मिक जीवन है तो हम कह सकते हैं कि उसका आध्यात्मिक जीवन उसे धार्मिक तत्त्वों को पार करा कर किसी ज़्यादा ऊँची चीज़ में प्रवेश करा देता है। लेकिन उसका आत्म-निवेदन अन्दर से आना चाहिये, वह औपचारिक न हो। अगर

वह केवल रूप से ही बँधा होगा तो यह इतनी बड़ी सीमा होगी कि वह आगे न बढ़ सकेगा।

ऐसे लोग जो अगर यह चाहते हों कि उन्हें अपनी प्रगति में रुकना न पड़े तो उन्हें अपने धर्म से बाहर निकलना ही होगा। लेकिन जो लोग ऐसे हैं जिनमें मानसिक क्रिया नहीं के बराबर है, जो अपने-आपसे प्रश्न नहीं पूछते, जिनके हृदय में तीव्र भक्ति और किसी अनन्तगुना महान् शक्ति के प्रति आत्म-निवेदन की ललक होती है, ऐसे लोगों के लिए धर्म के होने-न-होने से कोई फ़र्क नहीं पड़ता। सब एक ही है। लेकिन अगर कोई बाहरी ढाँचों एवं रीति-रिवाजों से ही बँधा हो तो वह कभी आगे नहीं जा सकता।

जब तक मन स्वतन्त्र न हो और प्रकाश में निवास न करता हो तो दूर तक जाना कठिन है। यह काफ़ी हद तक अनिवार्य शर्त है (हाँ, एकदम अनिवार्य नहीं), फिर भी ऐसे लोग हैं जिनमें कोई मानसिक शक्ति नहीं है और वे किसी भी सिद्धान्त को बिना बहस किये मान लेते हैं। वे अनुभव करते हैं कि कोई भी चीज़ उन्हें इस आन्तरिक ललक से नहीं रोक सकती जो उन्हें भगवान् के सम्पर्क में ले आयेगी। लेकिन साधारणतः उनका कोई मानसिक जीवन नहीं होता : वह बहुत ही सीमित होता है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. २७१

"भगवान्" शब्द का जो अर्थ हम करते हैं

यह सब इस पर निर्भर करता है कि तुम "भगवान्" शब्द का क्या अर्थ करते हो। यह एक शब्द है (यह बात मैं तुम्हें कम-से-कम चार-पाँच बार बता चुकी हूँ) "किसी ऐसी वस्तु" को व्यक्त करने के लिए जिसे तुम जानते नहीं पर पाने की कोशिश कर रहे हो। हाँ तो, यदि तुम्हें धार्मिक शिक्षा मिली है, तो तुम उसे "भगवान्" कहने के अभ्यस्त हो। यदि तुम्हें अधिक प्रत्यक्षवादी की-सी शिक्षा और अधिक दार्शनिक शिक्षा मिली है, तो तुम उसे कई नामों से पुकार सकते हो, और साथ ही यह भी सोच सकते हो कि यही परम सत्य है। यदि कोई भगवान् के विषय में कुछ कहना चाहे और उनका वर्णन करना चाहे, तो उसे उन वस्तुओं का प्रयोग करना पड़ेगा जो हमारी चेतना की पहुँच से अत्यधिक परे हैं, और एक ऐसी वस्तु को भगवान् कहना पड़ेगा जो उस सबसे ऊपर है जिसे हम जानते हैं और

समझते हैं और जो हम बन सकते हैं—जो कुछ हमारी समझ से बहुत दूर की चीज़ है उसे ही हम भगवान् कहते हैं। कुछ ही धर्म ऐसे हैं (कुछ ऐसे हैं) जो भगवान् को एक सुनिश्चित रूप देते हैं; और कभी-कभी वे बहुत-से रूप दे देते हैं और तब उनके बहुत-से भगवान् होते हैं; कभी वे एक ही रूप देते हैं और उनका एक ही भगवान् होता है; किन्तु यह सब मानवीय रचना है। "कोई वस्तु" अवश्य है, एक ऐसी वास्तविक सत्ता है जो हमारे सभी वर्णनों से परे है, किन्तु जिसके साथ हम एक विशेष अनुशासन के अभ्यास द्वारा सम्पर्क स्थापित कर सकते हैं। उसके साथ एक हो सकते हैं। एक बार व्यक्ति उसके साथ एक हो जाये तो वह उसके स्वरूप को जान लेता है, पर उसे व्यक्त नहीं कर सकता, क्योंकि शब्द उसका वर्णन करने में असमर्थ रहते हैं। अतएव, यदि इसके लिए किन्हीं शब्दों का प्रयोग करना हो, यदि व्यक्ति का कोई विशेष मानसिक विश्वास हो, तो वह उसी विश्वास के अनुसार शब्दों का प्रयोग करेगा। यदि तुम किसी और संघ के हो जिसके कहने का ढंग अलग है, तो तुम भी उसी ढंग से बोलोगे, बल्कि सोचोगे भी उसी ढंग से। मैं यह बात यह बताने के लिए कह रही हूँ कि एक ऐसी वस्तु है जो विचार के द्वारा हमारी समझ में नहीं आ सकती, पर जिसका अस्तित्व है। तुम उसे जो नाम चाहो दे दो, इसका अधिक महत्त्व नहीं है, बिलकुल नहीं—वह **बस है**। अतएव, केवल एक ही कार्य करने-लायक है, वह है, उसके सम्पर्क में आना—उसे कोई नाम देना या उसका वर्णन करना नहीं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. २९-३०

दिव्य सत्ताएँ तथा पूजा

लेकिन अगर तुम सच्ची दिव्य सत्ताओं को लो, तो ये ऐसी चीज़ को बिलकुल कोई मूल्य नहीं देतीं। उन्हें अपनी पूजा करवाना अच्छा नहीं लगता। नहीं, उन्हें इससे कोई विशेष ख़ुशी नहीं होती! यह मत सोचो कि वे सन्तुष्ट होती हैं, क्योंकि उनमें घमण्ड नहीं होता। घमण्ड के कारण ही मनुष्य को पूजा करवाना अच्छा लगता है; अगर व्यक्ति के अन्दर घमण्ड न हो तो उसे यह अच्छा नहीं लगता कि उसे पूजा जाये; और उदाहरण के लिए, अगर वे एक अच्छा इरादा, एक अच्छी भावना, या एक निष्काम

क्रिया, या उत्साह या आनन्द, आध्यात्मिक आनन्द देखें तो ये चीज़ें उनके लिए प्रार्थना, आराधना या पूजाओं से अनन्त गुना अधिक मूल्य रखती हैं...।

मैं तुम्हें विश्वास दिलाती हूँ कि मैं तुमसे जो कह रही हूँ वह बहुत ही गम्भीर बात है : अगर तुम एक सच्चे देवता को कुर्सी पर बिठा दो और जब तक तुम्हारी पूजा चलती रहे तब तक वहीं बैठे रहने के लिए बाधित करो तो शायद तुम्हें पूजा करते हुए देख कर उनका मनोरञ्जन तो हो, लेकिन निश्चय ही उन्हें किसी प्रकार का सन्तोष नहीं होता। बिलकुल नहीं! तुम्हारी पूजा से न तो वे फूल उठते हैं, न प्रसन्न होते हैं और न उनकी महिमा ही बढ़ती है। इस विचार को निकाल बाहर कर देना चाहिये। आध्यात्मिक और भौतिक लोकों के बीच एक पूरा-का-पूरा प्राणिक शक्तियों का प्रभाव-क्षेत्र है, और यही वह क्षेत्र है जो इन चीज़ों से भरपूर रहता है, क्योंकि ये सत्ताएँ उन पर जीती हैं, उनसे सन्तुष्ट हैं और यहाँ उन्हें तुरन्त महत्त्व मिल जाता है; और उनमें से जिसके सबसे ज़्यादा विश्वासी, भक्त और आराधक होते हैं वही सत्ता सबसे अधिक ख़ुश होती है और सबसे ज़्यादा फूल उठती है। लेकिन हम कल्पना भी कैसे कर सकते हैं कि देवताओं को यह पसन्द होगा...। देवता—मैं सच्चे देवताओं की बात कर रही हूँ, 'अधिमानस' के देवताओं की भी, यद्यपि वे अभी तक कुछ-कुछ... ऐसे-वैसे हैं... ऐसा लगता है कि उन्होंने बहुत-से मानवीय दोष अपना लिये हैं, फिर भी, इस सबके बावजूद, उनकी चेतना सचमुच उच्चतर होती है—उन्हें इन चीज़ों से ज़रा भी ख़ुशी नहीं होती। सच्ची हितैषिता की, बुद्धिमानी, निस्वार्थता, या सूक्ष्म समझदारी की या एकदम सच्ची अभीप्सा की क्रिया उनके लिए एक छोटी-सी धार्मिक पूजा की अपेक्षा अनन्तगुना ऊँची होती है। अनन्तगुना! दोनों में कोई तुलना नहीं।

धार्मिक अनुष्ठान

धार्मिक क्रियाएँ! उदाहरण के लिए, ऐसी कितनी ही सत्ताएँ हैं जिन्हें काली कहा जाता है—और जिन्हें, इसके अतिरिक्त, काफ़ी भयंकर रूप दिये जाते हैं—ऐसी कितनी ही हैं जिन्हें घरों में गृहदेवी के रूप में स्थापित किया गया है; ये सब भयंकर प्राणिक-शक्ति से भरपूर होती हैं! मैंने ऐसे लोग देखे हैं जो अपने घर में प्रतिष्ठित काली से इतना डरते थे कि छोटी-से-छोटी

भूल करते ही काँप उठते थे, क्योंकि जब उन पर महाविपत्तियाँ टूटतीं तो वे मानते थे कि उन्हें काली ने ही भेजा है! ऐसा विचार ही एक भयंकर चीज़ है। मैं इन सत्ताओं को जानती हूँ। मैं उन्हें अच्छी तरह जानती हूँ, लेकिन ये प्राण की सत्ताएँ हैं, प्राण की रचनाएँ जिन्हें, कहना चाहिये, रूप दिया है मनुष्य के मन ने, और रूप भी कैसा! और यह सोचना कि मनुष्य इतनी भयावह और विकराल चीज़ों की पूजा करते हैं; और तिस पर ये बेचारे देवता जिनका यह अभिनन्दन किया जाता है कि ये...।

इस दृष्टिकोण से यह बहुत अच्छा है कि कुछ समय के लिए मानवजाति इस धार्मिक वातावरण से बाहर निकल आये जो भय से और उस अन्धे, अन्धविश्वासी आत्म-समर्पण से भरपूर है जिसका विरोधी शक्तियों ने भयंकर रूप से अनुचित लाभ उठाया है। इस दृष्टिकोण से, मनुष्यों को अन्धविश्वास से मुक्त करने के लिए प्रत्याख्यान, अर्थात् इन्कार और प्रत्यक्षवाद का युग एकदम अनिवार्य है। इन सब चीजों से, पैशाचिक प्राण-शक्तियों के प्रति घृणित समर्पण से बाहर निकल कर ही हम सच्ची आध्यात्मिक ऊँचाइयों तक उठ सकते हैं और तब 'सत्य' की शक्तियों के, वास्तविक 'चेतना' और सच्ची 'शक्ति' के सहयोगी और सच्चे यन्त्र बन सकते हैं।

और ऊपर उठने से पहले व्यक्ति को इन सब चीज़ों को दूर, बहुत दूर छोड़ देना होगा।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. २२४-२५

सर्वांगीण समर्पण

कर्म का एक विशुद्ध भौतिक रूप, पूजा-पद्धतियों के उन रूपों के जैसा एक रूप होता है जिनमें कोई विशेष भाव-भंगिमा, कोई विशेष क्रिया पूजा-भाव को अभिव्यक्त करने के लिए व्यवहार में लायी जाती है। वह शुद्ध रूप में भौतिक होती है, उदाहरणार्थ, धूपबत्ती जलाना, पूजा-सामग्री को सजा कर रखना, यहाँ तक कि मन्दिर की देख-भाल करना, मूर्ति को सजाना इत्यादि विशुद्ध भौतिक कार्य।

दूसरा भाग होता है एक प्रकार का मानसिक पूजा-भाव जो कर्म को प्रतीक बना देता है। तब मनुष्य धूपबत्ती जलाने से ही सन्तुष्ट नहीं हो जाता, बल्कि धूपबत्ती जलाते समय वह उसे प्रतीकात्मक बना देता है जो,

उदाहरणार्थ, शरीर में जलती हुई अभीप्सा का अथवा आत्म-विलोपन के लिए, अग्नि के शुद्धीकरण के लिए किये गये आत्मदान का प्रतीक होता है। कहने का मतलब, पहले तो कर्म होता है, फिर इस कर्म का प्रतीक, और जो कुछ किया जाता है उसकी प्रतीकात्मक समझ होती है।

और अन्त में, इन दोनों के पीछे, एकत्व की अभीप्सा होती है; कि यह सब, ये कर्म तथा इनके साथ संयुक्त प्रतीक भगवान् के क्रमशः अधिकाधिक समीप जाने तथा अपने-आपको उनके साथ युक्त होने के उपयुक्त बनाने के साधन मात्र बनें।

इसलिए, कर्म को पूर्ण बनने के लिए ये तीन चीज़ें अवश्य होनी चाहियें : अर्थात्, कोई शुद्ध भौतिक वस्तु, कोई मानसिक वस्तु, और कोई चैत्य वस्तु, चैत्य अभीप्सा। यदि तीनों में से बाक़ी दोनों के बिना कोई एक वस्तु हो तो वह कर्म अपूर्ण होगा। सामान्यतया, बहुत विरल प्रसंगों में ही ये तीनों सचेतन रूप में संयुक्त होते हैं। ये चीज़ें उन्हीं लोगों में पायी जाती हैं जो अपनी सच्चाई और आत्मदान में असामान्य होते हैं। उन लोगों की सम्पूर्ण सत्ता, अपने सभी भागों में, उस कर्म में भाग लेती है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. २८३-८४

तुम्हें 'वास्तविकता' में जी सकना चाहिये

कभी-कभी व्यक्ति दर्शन की पूरी की पूरी पुस्तक पढ़ जाता है पर एक पग भी आगे नहीं बढ़ाता। कभी-कभी व्यक्ति धर्म का बड़ा निष्ठावान् भक्त हो सकता है पर विकास नहीं करता। ऐसे लोग भी हैं जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन ध्यान-चिन्तन में लगा दिया पर उन्हें प्राप्ति कुछ नहीं हुई। कुछ ऐसे लोग हैं (हमारे पास ऐसे कई जाने-माने उदाहरण हैं) जो बड़ा मामूली-सा शारीरिक कार्य करते थे, जैसे पुराने जूते गाँठने वाला मोची, पर उन्हें अनुभूति प्राप्त हुई। यह वस्तु सोचने और कहने से एकदम परे है। यह एक प्रकार की देन है, बस इतना ही। और आवश्यकता केवल इस बात की है कि हम वही बन जायें—अपने-आपको उसके साथ एक करने और उसे जीवन में उतारने में सफल हों। कभी ऐसा भी होता है कि तुम किसी पुस्तक में से एक वाक्य पढ़ते हो और वह तुम्हें वहाँ पहुँचा देता है। और कभी-कभी तुम दर्शन अथवा धर्म की सारी पुस्तकें पढ़ जाते हो और

तुम कहीं भी नहीं पहुँचते। हाँ, कुछ ऐसे लोग अवश्य हैं जिन्हें दर्शन की पुस्तकें पढ़ने से आगे बढ़ने में सहायता मिलती है। किन्तु ये सब बातें गौण हैं। महत्त्वपूर्ण केवल एक ही वस्तु है : सच्चा और दृढ़ संकल्प, क्योंकि ये बातें पलक झपकते ही नहीं हो जातीं। इसलिए इस कार्य में अध्यवसाय की आवश्यकता होती है, लगातार लगे रहना पड़ता है। जब व्यक्ति को ऐसा लगे कि वह आगे नहीं बढ़ रहा है तो उसे निरुत्साहित नहीं होना चाहिये, बल्कि उसे यह जानने की कोशिश करनी चाहिये कि उसकी प्रकृति की कौन-सी वस्तु विरोध कर रही है, और तब उसे आवश्यक प्रगति करनी चाहिये। और वह सहसा आगे बढ़ जाता है। और मार्ग के अन्त तक पहुँचते ही उसे अनुभूति प्राप्त हो जाती है। और विलक्षण बात यह है कि जिन लोगों ने बिलकुल भिन्न मार्गों का अनुसरण किया है, जिनकी मानसिक रचनाएँ भी बहुत भिन्न हैं, आस्तिक लोगों से लेकर नास्तिक लोगों तक, जड़वादी भी इसी अनुभूति पर पहुँचे हैं, यह सबके लिए एक ही है। कारण, यह सत्य है—वास्तविक है, यही एकमात्र वास्तविक अनुभूति है। और यह बिलकुल सहज भाव में **वही** है। मैं इससे अधिक कुछ नहीं कहती। तुम उसके बारे में कैसे बोलते हो, इसका कुछ महत्त्व नहीं है, महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वहाँ पहुँचने के लिए मार्ग का अनुसरण किया जाये, **तुम्हारे** अपने मार्ग का, चाहे वह कोई भी क्यों न हो।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. ३०-३१

योग और धर्म

मधुर माँ, योग और धर्म में क्या अन्तर है?

... एक ऐसे व्यक्ति की कल्पना करो जिसने, किसी-न-किसी रूप में, भगवान् जैसी किसी चीज़ के बारे में कुछ सुना है अथवा जिसे व्यक्तिगत रूप से ऐसा अनुभव हुआ है कि इस प्रकार की किसी वस्तु का अस्तित्व है। वह सब प्रकार के प्रयत्न करना आरम्भ करता है : संकल्प-शक्ति का प्रयोग, नियमानुशीलन, एकाग्रता का अभ्यास, सभी प्रकार के प्रयत्न इसलिए करता है कि वह इन भगवान् को पाये, यह पता लगाये कि वे क्या हैं, उनसे परिचित हो और उनके साथ युक्त हो जाये। तब कहा जायेगा कि

यह व्यक्ति योग कर रहा है।

अब यदि इस व्यक्ति ने उन सभी प्रयुक्त प्रक्रियाओं को लिपिबद्ध कर लिया है और वह एक निश्चित शैली का निर्माण कर लेता है, और जो कुछ उसने अनुसन्धान किया है उस सबको अकाट्य नियमों के रूप में प्रस्थापित कर लेता है—उदाहरणार्थ, वह कहता है : भगवान् इस प्रकार के हैं, भगवान् को पाने के लिए तुम्हें ऐसा करना ही होगा, यह विशिष्ट भंगिमा अपनानी होगी, यह मनोभाव बनाना होगा, यह अनुष्ठान सम्पन्न करना होगा, और तुम्हें अवश्य स्वीकार करना होगा कि **यही** सत्य है, तुम्हें अवश्य कहना होगा : "मैं यह स्वीकार करता हूँ कि यही है सत्य और मैं पूर्ण रूप से इससे सम्बद्ध हूँ; और तुम्हारी पद्धति ही एकमात्र सही पद्धति है, एकमात्र पद्धति जिसका अस्तित्व है"—यदि यह सब लिख लिया गया हो, किन्हीं सुनिश्चित विधानों और अनुष्ठानों में संगठित और व्यवस्थित कर दिया गया हो तो यही बन जाता है धर्म।

क्या मनुष्य इस पद्धति (धर्म की पद्धति) से भगवान् को उपलब्ध कर सकता है?

जो लोग अपने अन्दर आध्यात्मिक भवितव्यता वहन करते हैं और भगवान् को प्राप्त करने के लिए, उनके प्रति सचेतन होने तथा उनको जीवन में संसिद्ध करने के लिए जन्म लेते हैं, वे, चाहे जिस भी पथ का, जिस भी पद्धति का अनुसरण क्यों न करें, वहाँ पहुँच जायेंगे। कहने का तात्पर्य यह कि धर्म में भी ऐसे लोग हुए हैं जिन्होंने आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त किये हैं और भगवान् को पाया है—धर्म के कारण नहीं, सामान्यतया इसके बावजूद, इसके होते हुए भी—कारण, उनमें एक आन्तरिक प्रेरणा थी और वह प्रेरणा सभी कठिनाइयों के बावजूद और उनके भीतर से होते हुए उन्हें वहाँ ले गयी। प्रत्येक वस्तु उनके लिए अच्छी थी।

परन्तु ये ही लोग यदि अपने अनुभव को व्यक्त करना चाहते हैं तो वे स्वभावतः ही उस धर्म के शब्दों का व्यवहार करते हैं जिसमें वे पले थे, अतएव वे अपने अनुभव को सीमित कर देते हैं और उसे अनिवार्यतः बहुत अधिक सीमाबद्ध कर देते हैं, वे उसे मानों साम्प्रदायिक बना देते हैं।

परन्तु हो सकता है कि उन्होंने स्वयं सभी प्रथागत रीतियों, सभी प्रकार की सीमाओं और सभी परम्पराओं को भली-भाँति अतिक्रान्त कर लिया हो और विशुद्ध सरल रूप में सच्चा अनुभव प्राप्त किया हो।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. १७६-७७

आध्यात्मिक अहंकार सबसे बुरी चीज़ है

कोई भी ऐसी चीज़ नहीं है जो यौगिक साधना न बन सके यदि उसे समुचित रूप में किया जाये। और स्वयं तपस्या का भी कोई लाभ नहीं होगा यदि वह सम्यक् तरीक़े से न की जाये और वह तुम्हें कहीं नहीं पहुँचायेगी। क्योंकि यहाँ भी बात वही है, यदि तुम अपनी तपस्या करो और सदा उसे करते हुए अपने को देखते रहो और अपने-आपसे कहते रहो, "क्या मैं कोई प्रगति कर रहा हूँ, क्या यह अधिक अच्छा हो रहा है, क्या मैं सफल होऊँगा?" तो वास्तव में तुम्हारा अहं अधिकाधिक विशाल होता जा रहा है और समस्त स्थान को घेरता जा रहा है, समझे, और वहाँ दूसरी किसी चीज़ के लिए कोई स्थान नहीं है। और उस दिन हमने बताया था कि आध्यात्मिक अहंकार सबसे अधिक बुरा है, क्योंकि यह अपनी हीनता के विषय में एकदम अचेतन होता है, उसे पूरा विश्वास होता है कि भले ही वह पूर्णतः दिव्य न भी हों, पर कोई बहुत उच्च कोटि की वस्तु तो है ही!

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. ४३५

एक जीवन्त सत्य को अभिव्यक्त होना चाहिये

इन चीज़ों (विभिन्न धर्मों) में संगति और समन्वय मानसिक चेतना में नहीं लाया जा सकता। इसके लिए यह ज़रूरी है कि मन से ऊपर उठा जाये और विचार की पृष्ठभूमि में जो भावना विद्यमान है उसे खोजा जाये। श्रीअरविन्द ने यहाँ उदाहरण के तौर पर दिखाया है कि इनमें से प्रत्येक धर्म मानवीय प्रयत्न, अभीप्सा और उपलब्धि में किस-किस चीज़ का प्रतिनिधित्व करता है। इन धर्मों को उनके बाह्य रूपों में लेने के स्थान पर—जो कि केवल सिद्धान्त और बौद्धिक अवधारणाएँ होते हैं—यदि हम उन्हें उनकी उस मूल भावना में, उस मूल तत्त्व में लें जिनका वे प्रतिनिधित्व करते हैं तो उन्हें मिला कर एक करना कठिन नहीं है। वे, बस, मानव प्रगति के

विभिन्न पहलू हैं जो एक-दूसरे को अच्छी तरह पूर्ण बनाते हैं और उनमें दूसरे भी बहुत-से पहलुओं को मिलाने की ज़रूरत है ताकि एक अधिक समग्र और पूर्ण प्रगति हो सके, जीवन के प्रति अधिक पूर्ण समझ पैदा हो सके और भगवान् के प्रति हमारी पहुँच अधिक सर्वांगीण बन सके। और यह एकीकरण भी, जिसके लिए चीज़ों के पीछे विद्यमान आत्मा तक पहुँचना पहले ही ज़रूरी हो जाता है, पर्याप्त नहीं है; इसमें भविष्य-विषयक उस दृष्टि को जोड़ना भी आवश्यक है जिसे उद्देश्य के रूप में सामने रख मानवजाति आगे बढ़ रही है, जो संसार की भावी चरितार्थता है, वह अन्तिम "आध्यात्मिक क्रान्ति" अर्थात्, अतिमानसिक क्रान्ति है जिसकी श्रीअरविन्द ने चर्चा की है और जो नये युग का सूत्रपात करेगी।

अतिमानसिक चेतना में ये सब चीज़ें परस्पर-विरोधी या पृथक् न रह कर एक-दूसरे की पूरक बन जाती हैं। केवल मानसिक रूप ही इन्हें विभक्त करता है। एक मानसिक रूप जिस चीज़ का प्रतिनिधित्व करता है उसे दूसरे सब मानसिक रूपों द्वारा प्रकट की गयी वस्तु के साथ मिलना चाहिये ताकि एक सुसंगत सम्पूर्ण वस्तु बन सके। धर्म और सच्चे आध्यात्मिक जीवन के बीच मूल भेद, बस, यही है।

धर्म का अस्तित्व लगभग पूरी तरह बाह्य रूपों में, मत-विश्वास में और कुछ बँधे-बँधाये विचारों में होता है, और वह थोड़े-से असाधारण व्यक्तियों की आध्यात्मिकता के द्वारा ही महान् बनता है, जब कि सच्चा आध्यात्मिक जीवन, और उससे भी बढ़ कर आने वाली अतिमानसिक उपलब्धि, सभी निश्चित, बौद्धिक रूपों और जीवन के सभी सीमित रूपों से स्वतन्त्र होती है। यह जीवन सभी सम्भावनाओं और अभिव्यक्त रूपों को अपने अन्दर लेकर उन्हें अधिक उच्च और वैश्व सत्य की अभिव्यक्ति का साधन बना लेता है।

एक नया धर्म न केवल अनुपयोगी बल्कि बहुत अनर्थकारी भी होगा। आवश्यकता है एक नये **जीवन** के निर्माण की, एक नयी **चेतना** को अभिव्यक्त करने की। और यह एक ऐसी चीज़ है जो बौद्धिक सीमाओं और मानसिक सूत्रों से परे है। यह एक जीवन्त सत्य है जिसे अभिव्यक्त होना चाहिये।

इस सत्य की उपलब्धि में सभी वस्तुओं का उनके तात्त्विक और

सच्चे रूप में समावेश किया जाना चाहिये। इस उपलब्धि को दिव्य सत्य की यथासम्भव अधिक-से-अधिक समग्र, पूर्ण और वैश्व अभिव्यक्ति होना चाहिये। केवल यही मानवजाति और संसार को बचा सकती है। यही वह महान् क्रान्ति है जिसकी श्रीअरविन्द ने चर्चा की है। और यही वह चीज़ है जिसे वे चाहते थे कि हम उपलब्ध करें।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ९, पृ. ८५-८७

धर्म तथा मूर्तियाँ

धर्म की प्रवृत्ति सदा यह होती है कि वह भगवान् को मनुष्य के रूप में देखता है। यह रूप होता तो है बहुत परिवर्द्धित और विस्तृत ढंग का, लेकिन अन्त में ऐसे भगवान् हमेशा मानवीय गुणों वाले होते हैं। इसी कारण लोगों के लिए भगवान् के साथ ऐसा व्यवहार करना सम्भव होता है जैसा कि वे अपने मानवीय शत्रु के साथ करते। कुछ देशों में ऐसा भी होता है कि जब भगवान् लोगों की इच्छानुसार कार्य नहीं करते तो वे उन्हें ले जाकर नदी में फेंक आते हैं!

किन्तु क्या ये "मूर्तियाँ" केवल मनुष्य की रचनाएँ ही नहीं हैं? क्या इनका अपना अस्तित्व भी होता है?

रूप कुछ भी हो—जिसे हम तिरस्कार के भाव में "मूर्ति" कहते हैं—देवता का बाह्य रूप चाहे जो हो, चाहे हमारी भौतिक आँखों को कुरूप, अतिसाधारण या भयानक अथवा हास्यास्पद भी लगे, उसके अन्दर सदा उस वस्तु की उपस्थिति रहती है जिसका वह प्रतीक होता है। वहाँ एक ऐसा व्यक्ति अवश्य होता है, चाहे वह पुरोहित हो या दीक्षित शिष्य, साधु हो या संन्यासी, जिसमें कुछ शक्ति होती है और जो—साधारणतया यह कार्य पुरोहित का होता है—शक्ति और अन्दर की उपस्थिति को खींचता है। और यह बात वास्तविक और सच्ची है कि वहाँ शक्ति और उपस्थिति होती भी है। लोग इसी की, इस उपस्थिति की ही पूजा करते हैं, लकड़ी, पत्थर या धातु से बनी मूर्ति की नहीं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १०, पृ. १०७-०८

श्रीमाँ के जीवन की एक कहानी

जब पहली बार मैं भारत आयी तो एक जापानी जहाज़ से आयी थी। इस जापानी जहाज़ पर दो पादरी, अर्थात् विभिन्न सम्प्रदायों के 'प्रोटेस्टेंट प्रीस्ट' थे। मुझे याद नहीं कि ठीक-ठीक किन सम्प्रदायों के थे, पर वे दोनों अंग्रेज़ थे; मेरा ख़याल है कि एक तो था ऐंग्लीकन और दूसरा था प्रेस्बीटेरियन।

अब, रविवार आया। जहाज़ पर धार्मिक अनुष्ठान करना ज़रूरी था, नहीं तो वे जापानियों की तरह पेगन समझे जायेंगे! अनुष्ठान करना ही होगा, पर कौन उसे सम्पन्न करे? ऐंग्लीकन करे या प्रेस्बीटेरियन? बस, इस बात पर झगड़ा शुरू हो गया। अन्त में, उनमें से एक सम्मान के साथ चुप बैठ गया—मुझे अब याद नहीं कि वह कौन था, मेरा ख़याल है कि वह ऐंग्लीकन था—और प्रेस्बीटेरियन ने अपना अनुष्ठान सम्पन्न किया।

वह जहाज़ के एक बड़े कमरे में सम्पन्न हुआ। हमें इस कमरे में जाने के लिए कुछ सीढ़ियाँ नीचे जाना था। उस दिन, सभी पुरुषों ने अपना सूट पहना—वह गर्मी का दिन था, मेरा ख़याल है कि हम लाल सागर में थे—उन्होंने अपना वेस्ट-कोट पहना, कॉलर लगाया, जूते पहने; नेकटाइयाँ भली-भाँति बाँधीं, सिर पर हैट रखा और वे नीचे गये, उनके हाथ में एक पुस्तक थी, डेक से उस कमरे तक लगभग एक जुलूस के रूप में वे लोग गये। महिलाओं ने भी अपना-अपना हैट पहना, किसी-किसी के हाथ में छतरी भी थी, और उनके हाथों में भी एक पुस्तक, प्रार्थना की एक पुस्तक थी।

इस तरह वे सब नीचे कमरे में भर गये, और उस प्रेस्बीटेरियन ने एक प्रवचन दिया, अर्थात् धर्मोपदेश दिया, और प्रत्येक व्यक्ति ने बहुत धार्मिक भाव के साथ सुना। और फिर, जब वह समाप्त हो गया, वे सब ऊपर आ गये, उस व्यक्ति के जैसे सन्तोष के साथ जिसने अपना कर्तव्य पूरा कर दिया हो। और स्वभावतः ही, पाँच मिनट बाद वे 'बार' में जाकर शराब पीने लगे और ताश खेलने लगे, उनका धार्मिक अनुष्ठान विस्मृति के गर्भ में जा डूबा। उन्होंने अपना कर्तव्य पूरा कर दिया था, सब समाप्त हो गया था, अब उस विषय में कुछ भी और कहने की आवश्यकता नहीं थी।

और पादरी, प्रायः विनम्रता के साथ, मुझसे यह पूछने आया कि मैंने क्यों भाग नहीं लिया। मैंने उससे कहा: "महाशय, मुझे खेद है, पर मुझे धर्म में विश्वास नहीं है।"

"ओह! ओह! आप जड़वादी हैं!"

"नहीं, बिलकुल नहीं।"

"आह! फिर क्यों?"

"ओह! यदि मैं आपको बता दूँ तो आप काफ़ी नाराज़ हो जायेंगे, कोई बात न कहना ही मेरे लिए कहीं अधिक अच्छा होगा!"

परन्तु उसने इतना अधिक आग्रह किया कि मैंने अन्त में कहा: "बस, बात यही है कि मैं नहीं समझती कि आप सच्चे हैं, न तो आप और न आपका दल। आप सब वहाँ एक सामाजिक कर्तव्य पूरा करने और एक सामाजिक रीति-रिवाज का पालन करने गये, इसलिए बिलकुल नहीं गये कि आपने वास्तव में ईश्वर के साथ सम्पर्क प्राप्त करना चाहा था।"

"भगवान् के साथ सम्पर्क प्राप्त करना! पर वह तो हम नहीं कर सकते! हम अधिक-से-अधिक यही कर सकते हैं कि कुछ अच्छे शब्द कहें, परन्तु हमारे अन्दर ईश्वर के साथ सम्पर्क स्थापित करने की क्षमता नहीं है।"

तब मैंने कहा: "परन्तु ठीक यही कारण था कि मैं वहाँ नहीं गयी, क्योंकि उसमें मेरी रुचि नहीं है।"

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. १७८-७९

'सत्य' की खोज

हम जगत् या विश्व के सम्बन्ध में किसी ऐसी धारणा को "धर्म" कहते हैं जिसे ऐकान्तिक 'सत्य' माना जाता है और जिसमें व्यक्ति की पूर्ण श्रद्धा होनी चाहिये, क्योंकि साधारणतः यह घोषणा की जाती है कि वह किसी अन्तःप्रकाश का परिणाम है। अधिकतर धर्म भगवान् की उपस्थिति को और उनकी आज्ञा मानने के नियम को स्वीकार करते हैं, लेकिन कुछ भगवान्हीन धर्म भी हैं जैसे सामाजिक-राजनीतिक संगठन जो आदर्श या राज्य के नाम पर उसी भाँति आज्ञापालन की माँग करते हैं।

मनुष्य को अधिकार है कि वह स्वतन्त्र रूप से दिव्य सत्य की खोज करे और स्वतन्त्र रूप से अपने ही तरीक़े से उसकी ओर बढ़े। लेकिन हर एक को जानना चाहिये कि उसकी खोज केवल उसी के लिए अच्छी है, उसे औरों पर आरोपित नहीं करना चाहिये।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १५, पृ. ३३-३४

पात्र और अमृत

धार्मिक सम्प्रदायों के झगड़े उन बर्तनों के आपसी विवाद के समान हैं जिनमें अमरता देने वाला अमृत भरा जायेगा। उन्हें झगड़ने दो, किन्तु हमें तो अमृत लेने—पात्र कोई भी हो—और अमरत्व प्राप्त करने से मतलब है।

—श्रीअरविन्द

... अमरता का यह अमृत सर्वोच्च 'सत्य' है, सर्वोच्च 'ज्ञान' है, यह भगवान् के साथ ऐसा मिलन है जो अमरता की चेतना प्रदान करता है।

प्रत्येक सम्प्रदाय का भगवान् तक पहुँचने का अपना विशेष तरीक़ा होता है और इसी कारण श्रीअरविन्द इनकी तुलना विभिन्न पात्रों से करते हैं। किन्तु वे कहते हैं: रास्ता कोई भी पकड़ो इस बात का अधिक महत्त्व नहीं है। महत्त्व केवल लक्ष्य का है और तुम किसी भी रास्ते पर चलो, लक्ष्य एक ही है। अमृत किसी भी पात्र में हो, होगा अमृत ही।

कुछ लोग कहते हैं कि बर्तन का सोंधापन और जिस रास्ते का तुम अनुसरण करते हो वह रास्ता अमृत का स्वाद बदल देते हैं, दूसरे शब्दों में, वे भगवान् के साथ तुम्हारे मिलन को बदल देते हैं। श्रीअरविन्द उत्तर देते हैं: उन तक पहुँचने का रास्ता भिन्न हो सकता है और प्रत्येक व्यक्ति उसी रास्ते को चुनता है जो उसे पसन्द हो, तथा जो उसकी रुचि के अनुकूल हो, किन्तु स्वयं अमृत, अर्थात् भगवान् के साथ मिलन, समस्त अवस्थाओं में अमरत्व की अपनी शक्ति सुरक्षित रखता है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १०, पृ. ९४

श्रीअरविन्द के जन्म तक, धर्म और अध्यात्म के पन्थ हमेशा भूतकालीन व्यक्तियों पर आधारित थे और वे "जीवन का लक्ष्य" बताते थे धरती से जीवन के विलय को। तो, तुम्हारे सामने दो विकल्प होते थे : या तो

—इस जगत् **में** ऐसा जीवन जो तुच्छ विलास और पीड़ा, सुख-दुःख का चक्कर होगा और ठीक तरह व्यवहार न करने से नरक का भय रहेगा, या

—यहाँ से किसी और लोक **में** बच निकलना, स्वर्ग, निर्वाण, मोक्ष...।

इन दोनों में से चुनने-लायक कुछ भी नहीं है, दोनों समान रूप से ख़राब हैं।

श्रीअरविन्द ने हमें बतलाया है कि यही वह आधारभूत भूल थी जो भारत की दुर्बलता और उसके पतन के लिए ज़िम्मेदार है। बौद्ध धर्म, जैन धर्म, मायावाद देश की समस्त जीवन-शक्ति को सुखा देने के लिए काफ़ी थे।

यह सच है कि आज धरती पर भारत ही एकमात्र देश है जिसे इस बात का भान है कि 'जड़-द्रव्य' के सिवा और भी किसी चीज़ की सत्ता है। अन्य देश—यूरोप, अमरीका आदि—इसे बिलकुल भूल चुके हैं। इसलिए सन्देश अभी तक उसी के पास है, उसे सुरक्षित रखना और दुनिया तक पहुँचाना है। लेकिन अभी तो वह अव्यवस्था में बिखर और छटपटा रहा है।

श्रीअरविन्द ने बतलाया है कि सत्य सांसारिक जीवन से भागने में नहीं, उसके *अन्दर* रह कर, *उसे रूपान्तरित करने* और *उसे दिव्य बनाने में* है ताकि भगवान् **यहाँ, भौतिक जगत्** में अभिव्यक्त हो सकें।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १२, पृ. २३०

'पुरोधा' :

दैनन्दिनी

नवम्बर

१. अन्दर की अस्त-व्यस्तता को ठीक कर लो तो सब कुछ ठीक हो जायेगा।

२. झंझा-तूफ़ान में शान्ति, प्रयत्न में स्थिरता, समर्पण में उल्लास और आलोकित श्रद्धा—ये सब हों तो तुम भगवान् की स्थायी उपस्थिति को महसूस कर सकोगे।

३. मुसीबतें हमें यह सबक सिखाने के लिए आती हैं कि चाहे कुछ भी हो जाये, हम न केवल शान्त बने रहें बल्कि प्रसन्न भी।

४. अडिग और विश्वस्त रहो—तुम अपने लक्ष्य तक अवश्य पहुँचोगे।

५. गहरे, बहुत गहरे, अपने हृदय की नीरवता में उतरो और तुम वहाँ भगवान् को आसीन पाओगी—देदीप्यमान और दयापूर्ण।

६. हर रोज़ जागते समय हम पूर्ण उत्सर्ग-भरे दिन के लिए प्रार्थना करें।

७. निष्ठा सफलता का निश्चित आधार है।

८. प्रभु, मेरे ऊपर यह कृपा कर कि मैं तुझे कभी भूल न पाऊँ।

९. अगर कोई मुस्कुरा सके तो वह सदा युवा रहता है।

१०. रुकावटों की क्या परवाह, हम सदा आगे बढ़ेंगे।

११. परम सत्य और परम सौन्दर्य की सेवा में बिना थके लगे रहना महत्त्वपूर्ण है।

१२. तुम जो करते हो उसे भली-भाँति करना प्रगति के लिए द्वार खोल देता है।

१३. सच्चे और ईमानदार बनो तो तुम्हारा मन चैन से रहेगा।

१४. शुभचिन्ता ध्यान खींचे बिना जीवन को सुरभित करती है।

१५. भगवान् के प्रति समर्पण सबसे अच्छा भावनामय संरक्षण है।

१६. हर क्षण हमारी मनोवृत्ति ऐसी हो कि 'भगवान् की इच्छा' हमारे चुनाव का निश्चय करे, ताकि भगवान् हमारे समस्त जीवन को मार्ग दिखा सकें।

१७. घोर तपस्या की अपेक्षा सच्चा प्रेम तथा निवेदन भगवान् की ओर

कहीं ज़्यादा तेज़ी से ले जाते हैं।

१८. अपने अन्धकारों को सच्ची निष्कपटता के साथ भगवान् को समर्पित कर दो और तुम प्रकाश पाने के योग्य बन जाओगे।

१९. किसी चीज़ की तुलना उस शान्ति के साथ नहीं की जा सकती जो भागवत कृपा पर पूरा-पूरा भरोसा करने से आती है।

२०. अगर तुम गम्भीरता के साथ भगवान् से कहो, "मैं केवल तुझे ही चाहता हूँ" तो भगवान् परिस्थितियों को इस तरह सँजो देंगे कि तुम सच्चे बनने के लिए बाधित होगे।

२१. समस्त जीवन भगवान् की ओर अभिमुख, भगवान् के अर्पित, भगवान् की सेवा में हो, ताकि थोड़ा-थोड़ा करके वह भगवान् की अभिव्यक्ति बन जाये।

२२. जब भगवान् सच्चा आन्तरिक सुख प्रदान करते हैं तो दुनिया की किसी चीज़ में वह शक्ति नहीं होती जो उसे छीन सके।

२३. हमेशा याद रखो कि तुम जो सुख पाओगे वह उस सुख पर निर्भर होगा जो तुम देते हो।

२४. परम आनन्द को जानना भगवान् को जानना है।
भगवान् को जानना परम आनन्द को जानना है।
वे घनिष्ठ और चिरस्थायी रूप में अमिट तादात्म्य के साथ गुँथे हुए हैं।

२५. केवल भगवान् के साथ ऐक्य में और भगवान् के अन्दर ही सामञ्जस्य और शान्ति की स्थापना हो सकती है।

२६. सहिष्णुता बड़प्पन के भाव से भरी होती है, उसके स्थान पर होनी चाहिये पूरी सहानुभूति।

२७. सत्य हमारे अन्दर है, हमें केवल उसके बारे में अवगत होना है।

२८. धन्य होगा वह दिन जब पृथ्वी 'सत्य' के प्रति जाग कर, केवल भगवान् के लिए जियेगी।

२९. घर बदल कर तुम चरित्र नहीं बदल सकते। अगर तुम अपना चरित्र बदल लो तो तुम्हें वातावरण बदलने की ज़रूरत नहीं रहेगी।

३०. कठिनाइयों को जीतने के लिए आह की अपेक्षा मुस्कान में ज़्यादा शक्ति है। अग्निपरीक्षाएँ सबके लिए हैं। उनका सामना करने के तरीक़े में फ़र्क होता है। कुछ लोग मुस्कुराते और कुछ बात का बतंगड़ बनाते हैं।

एकान्त

(शिक्षाकेन्द्र की उभरती हुई कवयित्री की सुन्दर कृति)

मुझे सुबह के दो बजे का ज्ञान है
मेरा एकान्त मुझसे मिलने आता है;
उसका पथ मैंने याद कर लिया है,
जैसे वह धैर्य से इन्तज़ार करता है
जब तक मैं अपनी खिड़की न खोल लेती हूँ,
धीमे से वह आकर निरीक्षण करता है
कैसे उसकी अनुपस्थिति मुझे परेशान करती है।

मेरी मेज़, बिस्तर, किताबों से गुज़रता
हर कोना उसके स्पर्श से मुग्ध होता
और जल्द ही मेरा पूरा कमरा गूँजता
और उसकी अनुभूति से आवृत हो जाता।

फिर, वह मेरे पास आकर मुझे देखता
और उसकी आँखों में मुझे अपने राज़ मिलते
अपने डर, अपनी अभिलाषाएँ और यादें
मुझे अपना एक भूला हुआ हिस्सा मिलता,
वह हिस्सा जो मैं दुनिया से छिपाती थी।

उसकी आँखों की गहराइयों में मुझे वह दीखा
जो मेरी आँखों ने अनदेखा कर दिया था,
उसकी उपस्थिति की चेतना में मैंने पाया
वह प्यार जिसके लिए मैं तरस गयी थी।
और उसकी बाँहों की सान्त्वना में
मुझे आख़िर अपना घर मिल गया।

यह था मेरा एकान्त,
मेरा इतना प्रिय बन्धु
कि हमारे हिस्से नहीं किये जा सकते थे,
और यदि वह सशरीर होता या नहीं,
मेरे लिए वह मेरे हर क़दम में साथ रहता—

यदि मैं लोगों के बीच होती,
या अकेली किसी कोने में होती,
वह मेरा हाथ थामे मेरे पास होता;
उसके साथ मैं कभी अकेली नहीं थी।

यह था मेरा एकान्त,
मेरा एकमेव बन्धु
और हर सुबह दो बजे वह मुझसे मिलने आता।

—शाम्भवी

कौन है पेरु उदइयार?

तञ्जाऊर-प्रदेश के राजा थे राजराजाचोलम्।

जिस दिन 'राजराजेश्वरम्' नामक विशाल मन्दिर का निर्माण-कार्य पूरा हुआ, राजा का चिरप्रतीक्षित स्वप्न साकार हुआ—उनकी ख़ुशी का पारावार न था क्योंकि उन्होंने आर्थिक दृष्टि से किसी की भी सहायता न लेकर अपने बल-बूते पर वह भव्य मन्दिर खड़ा करवाया था।

सारे राजमहल में ख़ुशी की लहरें दौड़ रही थीं। महोत्सव मन रहे थे, दूर देशों से भी ठठ के ठठ लोग मन्दिर के दर्शन करने चले आ रहे थे। बच्चे, बूढ़े, जवान सभी की आँखों में भरा था विस्मय और होठों से फूट रहा था सम्मान-भाव—"वाह! क्या रचना है, कमाल कर दिखाया हमारे राजा ने।"

मन्दिर के द्वार पर राजा को घेरे खड़े थे उनके प्रशंसक, सभासद् और राजपरिवार के लोग।

"अद्‌भुत, अलौकिक, अनिर्वचनीय कलाकृति है महाराज।" किसी प्रशंसक की आवाज़ गूँज उठी।

"सच महाराज, मन्दिरों का सम्राट् दीखता है यह। थोड़े ही समय में चिरकालीन रचना करवा डाली आपने।" उत्साह से भरा यह स्वर पटरानी लोकमहादेवी का था।

—"महारानी, हृदय में चिरकाल से बसा सपना आज साकार हुआ" कहते-कहते राजा की आँखों से ख़ुशी के आँसू चू पड़े।

सबने मन्दिर के अन्दर प्रवेश किया। कला की अद्‌भुत रचना को निहारते-निहारते अचानक सब एक स्थान पर जड़वत् हो गये—सामने विशाल स्वर्णपट्ट पर स्वर्णाक्षरों में अंकित था—

"इस विशाल मन्दिर के निर्माता हैं राजराजाचोलम्।"

महामन्त्री बोल उठे—"राजन्, पत्थरों को मुखरित कर दिया आपने—आपके सतत निरीक्षण से ही यह सम्भव हुआ और फिर सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि आपने आर्थिक दृष्टि से किसी दूसरे की सहायता नहीं ली।"

आत्मप्रशंसा से कौन मुग्ध नहीं हो जाता? राजा भी अपवाद न थे। गर्व से बोल उठे—"ठीक कहा आपने, वर्षों से मेरी यही इच्छा थी कि किसी से एक पैसा भी लिये बिना अपने ही धन से एक भव्य मन्दिर खड़ा करवाऊँ, यद्यपि बहुतों ने सहायता का हाथ बढ़ाया, लेकिन मैं अपने निश्चय पर डटा रहा।"

चारों तरफ़ से राजा का जयजयकार होने लगा।

उस रात राजा अपने-आपको दुनिया का सबसे भाग्यशाली व्यक्ति समझ कर सोने गये, लेकिन क्या निर्विघ्न सो पाये? आधी रात को अचानक एक दुःस्वप्न से चौंक कर उठ बैठे—"ओह! सपना था" कह कर फिर सो गये, लेकिन उस सपने ने उनका पिण्ड न छोड़ा। तीसरी बार जब वही सपना देखा तो चीख उठे—"कौन है यह पेरु उदइयार?" महारानी काँप उठीं। "महाराज आप स्वस्थ तो हैं" व्याकुलता से बोलीं।

—"देवि, बार-बार एक ही भयंकर सपना देख रहा हूँ—स्वयं शिव मन्दिर में लिखे मेरे नाम को अपने हाथों से मिटा कर किसी पेरु उदइयार का नाम लिख रहे हैं। देवि, अब मैं यहाँ एक पल भी नहीं ठहर सकता,

जब तक इस रहस्य का उद्घाटन न कर लूँ मुझे शान्ति नहीं मिलेगी" यह कहते-न-कहते राजा नंगे पैर मन्दिर की ओर दौड़ पड़े। "महाराज वह तो मात्र सपना था" महारानी का यह वाक्य दीवारों से टकरा कर रह गया। और वे भी दौड़ पड़ीं महाराज के पीछे-पीछे।

द्वारपाल चकित, बड़ा अजीब दृश्य था वह—राजा बदहवास दौड़ रहे थे, उनके पीछे-पीछे महारानी और कई अन्य लोग थे। हाँफ़ते-काँपते राजा स्वर्णपट्ट के सामने पहुँच गये और वहाँ सबकी आँखें फटी की फटी रह गयीं—धीरे-धीरे राजा का नाम धूमिल पड़ गया और उसके स्थान पर चमकने लगा यह वाक्य—"इस विशाल मन्दिर के निर्माता हैं पेरु उदइयार।"

—"कौन है यह पेरु उदइयार"—राजा की चीख़ ने सारे वातावरण को कँपा दिया।

सवेरा होते-न-होते चारों दिशाओं में दौड़ पड़े अंगरक्षक पेरु उदइयार की खोज में। अन्त में दरिद्रता की साक्षात् मूर्ति, कंकालसदृश एक आदमी को राजा के सामने ला खड़ा किया।

—"क्यों, ऐसा क्या काम किया है तुमने कि स्वयं शिवजी ने मन्दिर में आकर मेरे नाम की जगह तुम्हारा नाम लिख दिया" क्रुद्ध राजा बोल उठे।

बेचारा उदइयार कुछ न समझ पाया, हाथ जोड़े बस इधर-उधर ताकने लगा।

राजा का ग़ुस्सा सातवें आसमान पर पहुँच गया, वे गरज उठे—"बहरे हो क्या? मैं तुम्हीं से पूछ रहा हूँ कि अपनी धन-दौलत से मैंने जो मन्दिर खड़ा किया उसमें तुम्हारा क्या योगदान है?"

दीन-हीन स्वर में उदइयार बोल उठा—"मेरी हँसी क्यों उड़ाते हैं महाराज, मेरे पास अपनी दरिद्रता के सिवाय किसी को भी देने के लिए भला है ही क्या?"

—"नहीं, नहीं, तुम्हारी इस बात पर मैं विश्वास नहीं कर सकता क्योंकि शिवजी पर मेरी अटूट श्रद्धा-भक्ति है, इसके पीछे ज़रूर कोई बात है।" राजा ने दृढ़ता से कहा।

हाथ जोड़े पेरु उदइयार सरल भाव से बोल उठा—"सच कह रहा हूँ महाराज, हाँ, यह बात भी सोलहों आने सही है कि मेरे भी आराध्यदेव शिव हैं, बस हृदय ही हृदय से पूजता हूँ उन्हें, इच्छा होते हुए भी कुछ देने

की सामर्थ्य तो मुझमें है नहीं। जब मैंने यह सुना कि आप भव्य मन्दिर बनवा रहे हैं तो मेरी ख़ुशी का ठिकाना न रहा। आप तो निर्माण-कार्य के लिए किसी का भी धन ले नहीं रहे थे और वैसे भी देने के लिए मेरे पास फूटी कौड़ी तक न थी। जितना याद पड़ता है, एक दिन मुझे कहीं से गेहूँ के कुछ दाने मिल गये थे, वे दाने मैंने उन बैलों को खिला दिये थे जो उस गाड़ी को खींचा करते थे जिसमें मन्दिर बनाने के लिए ईंट-गारा आदि जाया करता था। इससे ज़्यादा कभी कुछ कर पाया होऊँ इसकी तो धुँधली-सी भी याद नहीं मुझको।"

दरिद्र के महादान के सम्मुख राजा का सिर झुक गया। हाथ जोड़ कर बोले—"अज्ञानी, मूर्ख था मैं बन्धु, प्रभु की असीम कृपा से तुमने मुझे मेरे अन्धकार से निकाला, बहुत आभारी हूँ मैं तुम्हारा। अहंकार के मद में चूर हमेशा यही सोचा करता था कि मेरे जैसा भक्त न हुआ है न होगा। कौन अपना सारा धन लगा कर इतने भव्य मन्दिर का निर्माण करेगा? लेकिन मेरे प्रभु ने आज मुझ पर बड़ी कृपा की जो मुझे यह दिखा दिया कि तुम्हारे सच्चे दान के सामने मेरा करोड़ों रुपयों का ख़र्च इतना तुच्छ, इतना नगण्य था कि स्वयं प्रभु ने धरती पर उतर कर मन्दिर के सच्चे रचयिता का नाम सुनहरे अक्षरों में अंकित कर दिया।"

तब से तञ्जाऊर का राजराजेश्वर मन्दिर पेरु उदइयार मन्दिर के नाम से विख्यात हो गया।

'पुरोधा', जुलाई २००८ से —वन्दना

लक्ष्य को कभी न भूलो। अभीप्सा करना कभी बन्द न करो, अपनी प्रगति में कभी न रुको और निश्चय ही तुम सफल होओगे। —श्रीमाँ

Space on this page is offered by:

DEORAH SEVA NIDHI

Charitable Trust Dedicated to Service
(Founder trustee: Late Shri S. L. Deorah)
25, Ballygunge Park, Kolkata - 700 019

उनकी कृपा का स्पर्श कठिनाई को सुयोग में, विफलता को सफलता में और दुर्बलता को अविचल बल में परिणत कर देता है। भगवती माँ की कृपा परमेश्वर की अनुमति है, आज हो या कल, उसका फल निश्चित है, पूर्वनिर्दिष्ट अवश्यंभावी और अनिवार्य है ।

— श्रीअरविन्द

अमरनाथ शिक्षण संस्थान, मथुरा (उ.प्र.)

फोन– 0565–3240006, 9358340375

Website : anvaschool.org, Email-amarnath.mtr1@rediffmail.com

Registered: PY/47/2018-20
RNI No.18135/70

Date of Publication: 1st November 2018
Rs. 15.00 (Monthly)

A school by The Vatika Group vatika

Nature Friendly

"My child is in Grade 4. My son's journey with this school started 5 years back.

What really drew me to the school at the first instance is the calmness that prevails in the atmosphere!

Being a doctor myself, it was very important for me that the school environment should be healthy – class rooms in MatriKiran are the most nature friendly, spacious, well ventilated, they open out to green spaces... perfect to stay in communion with nature."

Dr. Nidhi Gogia
Mother of Soham Sharma, Grade 4

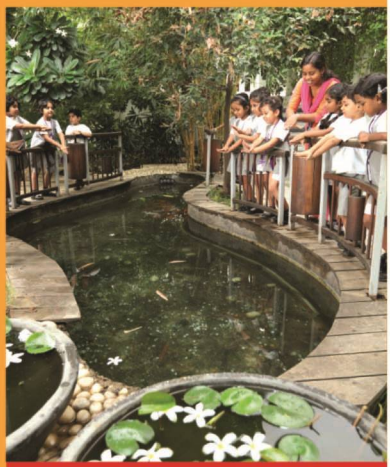

ADMISSIONS OPEN
Academic Year 2018-19

ICSE Curriculum

MatriKiran
www.matrikiran.in

Junior School SOHNA ROAD
Pre Nursery to Grade 5

Senior School VATIKA INDIA NEXT
Grade 6 onwards

Junior School
W Block, Sec 49, Sohna Rd, Gurugram
+91 124 4938200, +91 9650690222

Senior School
Sec 83, Vatika India Next, Gurugram
+91 124 4681600, +91 9821786363